बिहारीकी सतसई

दूसरा भाग

सतसई-सञ्जीवन भाष्य

(प्रथम खण्ड)

लेखक

पण्डित पद्मसिंह शर्म्मा

*

तन्त्री-नाद कवित्त-रस सरस राग रति रग
अनबूडे बूडे तरे जे बूडे सब अग

—बिहारी।

*

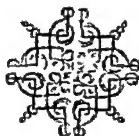
प्रथम सस्करण } १९७९ { मूल्य २॥)

प्रकाशक

काशीनाथशर्मा ''काव्यतीर्थ''

नायकनगला, डाकघर— चान्दपुर

जिला— बिजनौर।



मुद्रक

नारायणप्रसाद ''बेताब''

बेताब प्रिंटिंग वर्क्स,

ग्रन्थप्रणेतु पितृचरणा सुगृहीतनामधेया
——श्रीउमरावसिहशर्माण



पुस्तक-परिचय

" मदमत्तेन भावानः युक्ता या द्वितयी स्थिति ।
तामुल्लङ्घ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे ॥ "

आज कोई दस वर्षसे ऊपर हुए, " सतसईसहार " प्रकाशित हो चुकनेके बहुत दिन बादकी बात है, कई साहित्यप्रेमी मित्रोंकी प्रबल प्रेरणासे "ठुक पिटकर वैद्यराज" बननेको विवश होना पड़ा था। सतसईकी कुछ नयी पुरानी पोथियां—हस्तलिखित और मुद्रित टीकाएँ-इधर उधरसे जुटाकर महाविद्यालय (ज्वालापुर) से अवकाश ग्रहण करके, स्वर्गीय सुहृद् पण्डित रामस्वरूपजीके प्रणयानुरोधसे उनके यहाँ- भागीरथीके पावन तटपर, अहार (बुलन्दशहर) के एकान्त स्थानमें, मित्रवर पण्डित रलारामजी शर्मा "ब्रह्म" को साथ लेकर, सतसईकी व्याख्या समाप्त करके उठनेके विचारसे आसन मारकर बैठा। परन्तु एक डेढ महीनेसे अधिक –(१ मार्चसे १५ अप्रेल सन् १९१४ ई० तक) वह स्थिति न चल सकी– एकान्त वासकी बैठक न जम सकी – इसी बीचमें महाविद्यालयका मुखपत्र "भारतोदय" मासिकसे साप्ताहिक होगया, उसमें जोतनेके लिये महाविद्यालयके महानुभाव "वैद्यजी" और "रावजी" "सम्पादकजी"-को फिर पकड़ लाये। विचारधारा दूसरी ओर बह चली, 'सतसई' का साथ छूट गया।

उस समय जितना अंश लिखा जाचुका था, उससे आगे फिर न लिखा जा सका। वही आज इतने दिनों बाद इस रूपमें किसी प्रकार मुद्रित होकर प्रस्तुत है। इच्छा थी कदाचित् उचित भी यही होता कि पूरी पुस्तक एक साथ प्रकाशित होती– पर वैसा न हो सका। भूमिका भागको पढकर अनेक अनुल्लङ्घ्यशासन सा-

हित्यानुरागी सज्जनोंका आग्रह बढ़ा कि भाष्यका जितना भाग तैयार है उसके प्रकाशनमें अब विलम्ब न किया जाय, कौन जाने पुस्तक कब पूरी हो।

"आह को चाहिये इक उम्र असर होने तक,
कौन जीता है तेरी जुल्फके सर होने तक।"

सारीकी आशामें कहीं यह आधी भी न जाती रहे।

फिर जिस ढंगसे पुस्तक प्रारम्भ हुई है, वह एक साथ एक जिल्दमें समा भी नहीं सकती। किसी लेखकके लिये पुस्तक लिख लेना तो उतना कठिन नहीं, जितना उसे प्रकाशित करना कष्ट-साध्य है। इस 'दर्दे सर' के दुःखको कुछ भुक्तभोगी ही जानते हैं। कभी कभी तो यही प्रार्थनीय प्रतीत होता है कि कोई साधनहीन साहित्यसेवी इस झंझट में न उलझे।

मनुष्य निमित्तमात्र है, जो कुछ भी हुआ और जैसे भी हुआ, सब उसी अदृष्ट-चक्रके सचालककी प्रेरणासे हुआ, इस प्रसगमें यह पद्य बार बार याद आते हैं—

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥"

"फिरता हूं फेरता है वह परदानशीं जिधर,
पुतलीकी तरह मैं नहीं कुछ अख्तियारमें॥" ✓

आगे भी जो कुछ होगा तो उसीके इशारेसे होगा। तबीयत बुझ गयी है, उत्साह भग्न होगया है, आये दिनकी आधि-व्याधियोंके आधिक्यने शरीरका ढाचा ढीला कर दिया है, चिन्ताओंने दिलका दर्पण चकनाचूर कर दिया है। फिर भी मायाविनी आशा सामने खड़ी सब्जबाग दिखा रही है– ढाढस बँधा रही है– कि "हिम्मत न हारो, सम्भव है कुछ और अवकाश मिल जाय, और यह अधूरा

कार्य किसी प्रकार पूरा हो जाय। देखते नहीं गत वर्ष इन्हीं दिनों यह शरीर मुमूर्षु-दशामें रोगशय्यापर पड़ा था, अपने पराये सब निराश हो चुके थे, पीछे प्राण-सङ्कटसे पार होनेपर भी क्या तुम्हें यह आशा थी कि यह जर्जर तन पञ्जर इस भारी भारको उठानेमें इसी जन्ममें फिर समर्थ हो सकेगा– इस दुर्गम घाटीके विषम मार्ग-में कुछ भी पद-सचालन कर सकेगा "—

उल्लिखित 'राम-कहानी' सम्भव है इस प्रसङ्गमें किन्हीं महानु-भावोंको 'गङ्गाकी गैलमें मदारका गीत' जैसा कुछ असम्बद्ध प्रलाप सा प्रतीत हो। पर लेखकके लिये यह अविस्मरणीय घटना है। यह इस पुस्तककी "सङ्क्षिप्त जीवनी" है, लेखकके भावोंका धुधला चित्र है। "बिगडे साजकी बिगडी सदा" है। सुकुमारस्वभाव पाठक इसपर कान न दें, इसे छोडकर एकदम आगे बढ जायँ यह कहते हुए— "साज बिगडे है तो निकले है सदा बिगडी हुई।"

'बिहारीकी सतसई" जैसी कुछ है— या लेखकने उसे जैसा कुछ समझा है – वह भूमिकाभागमें निवेदन हो चुका है। कविकी जीवनी-पर इस भागमें विस्तृत आलोचना करनेका विचार था, पर वह इस समय न हो सका। कविवर श्रीबिहारीलालजीके सम्बन्ध-में अबतक जो कुछ मालूम हो सका है उसके आधारपर मेरी यही धारणा है कि वह ब्रजवासी चौबे थे। इस विषयपर श्रीव्यासजी अपने "बिहारीविहार" मे विस्तृत विवेचना कर गये हैं, जो पठ-नीय है।

प्रस्तुत पुस्तकका सङ्क्षिप्त परिचय देकर उन टीका ग्रन्थोंकी चर्चा चलाना इस जगह आवश्यक जान पडता है, जिनसे इसके निर्माण में सहायता मिली है।

"बिहारी-सतसई" पर जितने टीका तिलक हैं उतने ब्रजभाषा-के किसी काव्यपर तो क्या, देव भाषा (संस्कृत) के किसी गम्भीर-

से गम्भीर ग्रन्थपर भी बहुत कम हैं। इतने पर भी यह व्यापार अभी बन्द नहीं है। नयी टीकाएँ बनती ही चली जा रही हैं। सब-पर तो नहीं पर बहुतोंपर भोजदेव—(पातञ्जल दर्शनपर 'राजमार्तण्ड'-वृत्तिकार)—की यह उक्ति थोडी बहुत चरितार्थ होकर रह जाती है—

"दुर्बोध यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभि
स्पष्टार्थेष्वपि विस्तृति विदधति व्यर्थै ममासादिकै ।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रम तन्वते,
श्रोतॄणामिति वस्तुविप्लवकृत. सर्वेपि टीकाकृत ॥" ❀

पर इसमें टीकाकारों बेचारोंका इतना अपराध नही, व्याख्येय ग्रन्थ की गम्भीरता और दुर्बोधताका भी दोप है।

ध्वनि व्यञ्जना प्रधान कविताके मर्मका समझना बडा कठिन है, और फिर उसे औरोंको समझाना तो और भी कठिन है। कविका आशय क्या है—किस भावको लक्ष्यमे रखकर कविने यह रचना रची है, यह तो स्वय कवि ही कह सकता है। व्याख्याकारों-को तो अक्सर अटकलहीसे काम चलाना पडता है। उसमें कही कविके अभिप्रेत लक्ष्य पर पहुच जाते है, कही भटककर उससे दूर जा पडते हैं। "गूगे को सैन - (इशारा)--और निगूढार्थ काव्य-

---

❀ अत्यन्त दुर्बोध स्थलको "स्पष्ट है" कहकर छोड देते है, और जहाँ व्याख्याकी अपेक्षा नहीं —अर्थ स्पष्ट है— वहाँ समासको बखिया उधेड-कर और कोष आदिके अवतरण दे देकर व्यथ ही विस्तार कर देते हैं। जहाँ आवश्यकता नहीं, वहाँ अनुपयोगी जल्पोंसे — पूर्व पक्ष उत्तर पक्ष आदिके विकल्पोंसे— बातका बतगड बनाकर श्रोताओंका (पाठकोंको) भ्रम जाल में फंसा देते हैं।

—इस प्रकार सब ही टीकाकार समझानेके बदले और उलटा उलझाते

का आशय समझना कुछ एक सी बात है। एक ही कविताका भाव कोई कुछ समझता है, कोई कुछ। कोई भी टीकाकार जान बूझकर अपने पाठकोंको भ्रममे भटकाना नहीं चाहता — वस्तु-विप्लव नहीं करता— वह वस्तु — (प्रतिपाद्य विषय) — ही 'इलहाम' या गूंगेकी सैनके समान दुर्ज्ञेय हो तो व्याख्याकार वेचारा क्या करे! अपनी अपनी समझसे सब ही "ग्रन्थग्रन्थिया" सुलझानेकी चेष्टा करते हैं, फिर भी सब को सर्वत्र सफलता प्राप्त नहीं होती, कहीं न कहीं किसी उलझनमें उलझकर रही जाते हैं। अभिप्राय यह कि व्याख्याकारोंके मतभेद या अर्थविरोधमें मानवस्वभाव-सुलभ मतिभ्रमके अतिरिक्त यह भी एक प्रधान कारण है। जो कुछ भी हो, टीकाकारोंकी सम्मति सब जगह एक दूसरेसे प्राय नहीं मिलती। यह कुछ विहारीसतसईके टीकाकारोंहीकी बात नहीं, सस्कृतसाहित्यके व्याख्याकारोंकी भी यही दशा है, वहा यहाँसे भी अधिक मतभेद पाया जाता है। यदि ऐसा कहा जाय कि यह परिपाटी वहींसे हिन्दीमें भी आयी है तो अनुचित न होगा। ऐसे प्रकरणोंमें — मतभेदके प्रसङ्गोंमें — किसका मत ठीक है, इसका निर्णय विवेकी पाठकोंकी समझ और रुचिपर अवलम्बित रहता है।

दोहोंका क्रम

विहारी-सतसईके दोहोंका क्रम प्राय सब पुस्तकोंमें एक दूसरेसे भिन्न है—किसी का क्रम किसीसे नहीं मिलता—इसका कारण यही प्रतीत होता है कि कविने किसी क्रमको लक्ष्यमें रखकर दोहोंका निर्माण नहीं किया, (किसी किसीका मत है कि क्रमके चक्करमें पडकर विहारी यदि दोहोंकी रचना करते, तो उनमें यह असाधारण चमत्कार शायद ही होता!) कारण कुछ भी रहा हो, पर यह निर्विवाद है कि दोहोंकी रचना किसी क्रमविशेषके

आधारपर नहीं हुई। पीछे से अपनी अपनी रुचिके अनुसार टीकाकारोंने "मिसलबन्दी" कर ली है। यही बात सुप्रसिद्ध "सुरतिमिश्र" ने अपनी टीका "अमरचन्द्रिका"में लिखी है—

"कियो बिहारी सतसया सु तौ अगरजा वेस,
मिसलवार पे यह भई टीकाहित असेस।"
चमत्कार ही मुख्य है या सतसैया माहि,
नहीं अनुक्रम नायिका ग्रन्थरीति ह्या नाहि॥"

—जिस प्रकार "अगरजे में" (एक प्रकारके सुगन्धित अगराग या उबटने में)—केसर, कस्तूरी, चन्दन, कपूर आदि सब एकमें मिले जुले रहते हैं—(वैष्णवों के "सकल पुगल" के समान!)—इसी प्रकार 'सतसई' कविता-कामिनी का "अरगजा"+ है। इसमें "चमत्कार" ही मुख्य है। यह नायिकाभेद आदि की रीति का अनुक्रम ग्रन्थ नहीं है।

इन विखरे हुए आबदार मोतियों को अनुक्रमकी लडियोंमें पिरोकर अपनी अपनी मरजी से "मिसलबन्दी" की मालाए—(मुक्ताहार)—बना ली हैं। किसी 'मिसलबन्द' का दोहा है—

"जद्यपि सोभा है घनी मुक्ताफल में देस,
गुहे ठौर की ठौर में लरमें होत बिसेस।"

मिसलबन्दी"

पुराने टीकाकारोंमें सबसे पहले कृष्णकविने 'मिसलबन्दी' की है, पर उसमें प्रकरणविभागानुसार क्रमनिर्देश नहीं है।

उसके पीछे "अनवरचन्द्रिका" में क्रम बैठाया गया है। उसमें नीचे लिखे १५ प्रकाशों में— प्रकरणों में— सतसई को विभक्त

किया गया है—

१—साधारण नायिका वर्णन
२—सिखनख वर्णन
३—मुग्धाआदि त्रिविधनायिका वर्णन
४—स्वाधीनपतिका आदि अष्ट नायिका वर्णन
५—प्रेमप्रशंसा वर्णन
६—मानिनी वर्णन
७—सुरति सुरतान्त वर्णन
८—परकीया वर्णन
९—दशदशा वर्णन,
१०—सात्त्विक भाव वर्णन
११—मद्यपान वर्णन
१२—हाव वर्णन
१३—नवरस वर्णन
१४—षडऋतु वर्णन
१५—प्रस्ताविक, अन्योक्ति वर्णन ×

"प्रतापचन्द्रिका" में भी इसी क्रमका अनुसरण किया गया है।

श्रीयुत सुरतिमिश्र ने (अमरचन्द्रिका में) इन नीचे लिखे पांच प्रकरणों में विभक्त करके सतसई को "सिलसिलेवार" किया है——

१—भक्तिमार्ग वर्णन विलास
२—शृंगाररस वर्णन विलास
३—प्रस्ताविक वर्णन विलास
४—अन्योक्ति वर्णन विलास,
५—शान्तरस वर्णन विलास।

+अनवरचन्द्रिकाकारने प्रकरणविभाग की संख्या १६ लिखी है ... पहला 'प्रकाश' (प्रकरण) 'प्रभु वशवर्त ... से सम्बन्ध नहीं ...

हरिकविकी "हरिप्रकाश टीका" पुरुषोत्तमदासजी के बाँधे हुए क्रमपर है, पर इसमें "अनवरचन्द्रिका" या "अमरचन्द्रिका" के समान प्रकरणविभाग नहीं है।

पुरानी टीकाओं मे सबसे पिछला क्रम "आजमसाही" क्रम है, जिसपर सुप्रसिद्ध श्रीलल्लूलालजी की "लालचन्द्रिका" है। 'सुकवि' व्यासजी के "विहारीविहार" मे भी इसी क्रमपर "कुडलिया" हैं। और क्रमोंकी अपेक्षा यह कुछ अच्छा है, सरल है। "सतसई-सञ्जीवन" में दोहों का पाठ, क्रम और विषयसूचनिका-शीर्षक इसीके-लालचन्द्रिकानुसृत आजमसाही क्रमके—अनुसार ही रक्खा गया है। इस क्रम में प्रकरण-विभाग इस प्रकार है—

१—नायक नायिका वर्णन

२—सयोग वियोग शृगार वर्णन

३—सिख नख ऋतु वर्णन

४—प्रस्ताविक, अन्योक्ति, नवरस, नृपस्तुति, परिशिष्ट, त्रुटित वर्णन।

"आजमशाही" क्रमके सम्बन्धमे अबतक सर्वसाधारणकी यह धारणा चली आती थी कि इसका निर्माता या निर्मापयिता शाहजादा "आजमशाह"-(औरगजेब का पुत्र)-है पर अब इस मत में परिवर्तन हुआ चाहता है। श्रीयुत बाबू जगन्नाथदासजी "रत्नाकर" बी० ए० को पता चला है-उन्हे कहीं से कोई पुष्ट प्रमाण मिला है—कि उक्त धारणा निरी निराधार है, "रत्नाकर जी" कहते हैं कि "यह क्रम—(आजमशाही क्रम)—सवत् १७८१ वि० मे जौनपुर-निवासी "हरजू" कवि ने आजमगढ के अधीश आजमखा के लिये बाधा था"—अस्तु।

सतसई-सञ्जीवनकी रचनामें जिन प्राचीन टीकाओंसे सहायता ली गयी है, उनमें विशेषरूपसे उल्लेख्य ये हैं —

१—"लालचन्द्रिका" (डाक्टर ग्रियर्सन साहब वाला सँस्करण)

२— व्यासजीका "विहारी-विहार"

३ — "हरिप्रकाश"

४— कृष्ण कविको टीका

५—"शृंगारसप्तशती" (कवि परमानदकृत सस्कृत अनुवाद),

हस्तलिखित—

६—"अनवरचन्द्रिका"(श्रीयुत पण्डित ज्वालादत्तजी शर्म्मा मुरादाबादसे प्राप्त)

७—"अमरचन्द्रिका" (श्रीयुत पण्डित हरिनाथजी शास्त्री, छाता-बलिया—मे प्राप्त)

८—"प्रतापचन्द्रिका" (विद्यानिधि श्रीयुत प० गिरिधरजीशर्म्मा चतुर्वेद जयपुरसे प्राप्त)

९—"रसचन्द्रिका" (श्रीयुत कविवर बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त चिरगाव—झाँसी—मे प्राप्त)

उल्लिखित टीकाओंका (प्रतापचन्द्रिकाको छोडकर) ऐतिह्य विवरण "विहारीविहार" की भूमिकामें विस्तृत रूपसे वर्णित है। यहाँ हस्तलिखित टीकाओंकी उन प्रतियोंके सम्बन्धमें सक्षिप्त निवेदन कर देना उचित प्रतीत होता है, जो मुझे मिली हैं।

"अमरचन्द्रिका' की वह प्रति जिसका उपयोग मैंने किया है, १५० वर्ष पुरानी लिखी हुई है। पुस्तककी समाप्ति पर यह लेख है "सवत् १८२९ वर्षे पौष कृष्णा ७ शनौ लिखितमिद पुस्तकम्।"

लेखकने अपना नाम धाम नहीं लिखा, पुस्तक पक्की स्याहीसे पक्के- सुपाठ्य— अक्षरोंमें एकही हाथकी लिखी हुई, पत्राकार है।

इतनी पुरानी होने पर भी इसमे एक 'नवीनता' है, वह (नवीनता) अकारादि क्रमसे दोहोंका सूचीपत्र है, जो नवीन प्रणालीके

सूचीपत्रोंके ढगमे बहुत कुछ मिलता जुलता है, इस सूचीपत्रमें एक विशेषता है, प्रत्येक सवर्णादि दोहोंकी प्रतीकके प्रारम्भमें उनका योग (टोटल) दिया हुआ है, यथा 'क' दोहा ६८ 'ग' दोहा २१ इत्यादि।

इससे यह प्रमाणित होता है कि अकारादिक्रमके सूचीपत्र निर्माणकी प्रथा पुरानी है, नयी नहीं। "विहारीविहार" में व्यासजी ने जो दोहोंके क्रमकी सूची दी है उसमें "अमरचन्द्रिकाके" कोष्ठकमें अनेक दोहोंके आगे + यह चिह्न लगाकर यह सूचित किया है कि उन पर "अमरचन्द्रिका" नहीं है, पर इसमें दोचारको छोडकर वे सब दोहे हैं जो व्यासजीकी उस पुस्तकमे (अमरचन्द्रिकामें) नहीं थे। व्यासजीकी वह आदर्श पुस्तक संवत् १८५४ वि० की लिखी हुई थी, यह उससे २५ वर्ष पुरानी है।

"अनवरचन्द्रिका" की समाप्तिपर लेखकने अपने नाम तथा पुस्तक लिखनेके समयका उल्लेख इस प्रकार किया है—

"लेखित मया त्रिपाठिलालाशर्मेति (शर्मणेति) संवत् १८५८ पौष शुक्ल। तिथौ षष्ठ्या शनिवारान्वितायां क्रकचाख्ययोग।"

"अनवरचन्द्रिका" अनवरखाँ के लिये शुभकर्ण कविने संवत १७७१ वि०मे बनायी थी। ग्रन्थारम्भमें मङ्गलाचरणके छप्पयमें शुभकर्ण कविकी 'छाप' है। शुभकर्ण कविने अनवरखाकी प्रशस्तिमें भी कोई ग्रन्थ लिखा था, जिसके कई दोहे इस पुस्तकमे यत्र तत्र उद्धृत हैं।

"प्रतापचन्द्रिका" मे भी शुभकर्णके नाम से यह दोहा रौद्ररस के उदाहरणमे दिया है—

"लखि दुरजन अनउर प्रबल, कीनों कोप कराल।
चढ़ी भ्रकुटि फरके अधर भये नैन जुग लाल॥

व्यासजी ने "(विहारी विहार" की भूमिकामें) अनवरचन्द्रिकाके सम्बन्धमें लिखा है कि—

"यह ग्रन्थ नवाब अनवरखाकी सभाके कँवलनयन आदि कवि-योने नवाबके लिये बनाया था।"

सम्भव है ग्रन्थकी रचनामें शुभकर्णकविके साथी कमलनयन आदि अन्य कवि भी रहे हों, पर इस पुस्तकमे केवल शुभकर्ण कवि-ही का नामोल्लेख है।

यह टीका सच्छिप्त होनेपर भी अलङ्कार आदि-सूक्ष्म पर महत्त्वपूर्ण बातें जाननेमें साहित्यजिज्ञासुओंके लिये अत्यन्त उपयुक्त है।

"प्रतापचन्द्रिका" जयपुराधीश महाराज प्रतापसिंहजीके आदेश-से उन्हींके नामपर सवत् १८४२ वि०में मनीराम कविने बनायी थी। इसमें प्रकरणविभाग,दोहोंका क्रम आदि सब कुछ अनवरचन्द्रिकाके अनुसार है। यह उसीके आधारपर बनी है। प्रत्येक दोहेपर अन-वरचन्द्रिका" लिखकर "अमरचन्द्रिका" भी पूरी उद्धृत कर दी है। अपने पृथक् मत का भी कहीं कही उल्लेख है।

अलङ्कार अलबत्ता इसमे सब से अधिक हैं। ढूढ भाल कर कोई न कोई नया अलङ्कार हर दोहे पर पहली टीकाओसे अधिक लिखा गया है। यही इसकी विशेषता है। टीकाकी समाप्तिपर मनीराम जी ने यह "विशेषता" लिख भी दी है —

"अनवरखा अरु अमरतं भूषन, अधिक तु जोइ।
प्रतापचन्द्रिका, विषै लिख रवि जोइ॥"

'रसचन्द्रिका' सतसईकी यह गद्य टीका नरवरगढके राजा छत्रसिंहके लिये नवाब ईसवीखाने सवत् १८०६ में वि० में बनायी या बनवायी थी। यह बात इसी ग्रन्थ के अन्त में लिखी है। इसके सम्बन्धमें श्रीव्यासजीने "विहारीविहार" की भूमिकामें लिखा है—

"सब से विलक्षण बात इसमें (रसचन्द्रिकामे) यह है कि दोहे

-सब अकारादिक्रमसे रक्खे हैं। पहला दोहा "अपने अपने मत लगे" और अन्तका "हा हा वदन उघारि दृग" है।"

"रसचन्द्रिका" की जो प्रति मेरे पास है, वह चैत्र वदि ५ संवत् १८८५ वि० लिखी हुई है, इसमें व्यासजीका लिखा उक्त क्रम नहीं है। यहां पहला दोहा "मेरी भव बाधा हरौ" और अन्त का "गली अंधेरी साकरी" है। अस्तु। पुरानी उपलब्ध गद्य टीकाओं में ("हरिप्रकाश" को छोड़कर) यह टीका अच्छी है। भाषा मध्य-भारत की ब्रजभाषा और खड़ी बोली का समिश्रण है।

अप्रकाशित पुरानी टीकाएँ किसी सम्मेलन या सभाके उद्योगसे सुसम्पादित होकर शुद्ध रूपमें यदि प्रकाशित होजायँ तो "मनोरंजन" व्यापारकी अपेक्षा साहित्योद्धारकी दृष्टिसे यह काम बड़े महत्त्व-का हो।

मुद्रित टीकाओंमें "कृष्ण कवि" की टीका जो छपी मिलती है, वह बहुत भ्रष्ट, अपूर्ण और अशुद्ध है। हस्तलिखित पुरानी प्रतियोंके आधार पर उसका संशोधन और सम्पादन होकर यह भी प्रकाशित होनी चाहिये। ऐसा होने पर इस बात का निर्णय भी होजायगा कि नवलकिशोर प्रेस में मुद्रित प्रति में कृष्णकवि के अतिरिक्त जो अन्यान्य (लगभग २५) कवियोंकी कविता मिलीजुली मिलता है, इस-का रहस्य क्या है। अर्थात् कृष्णकवि ने उन उन दोहों पर अपनी कविता न रचकर दूसरे कवियों की—(जिनमें बिहारीके पूर्ववर्त्ती भी हैं, समसामयिक भी और पश्चाद्वर्त्ती भी)—दोहोंके भावसे मिलती जुलती समानार्थक सूक्तियां दे दी हैं, या पीछेसे किसी लेखकने कृष्णकविकी टीकामें प्रक्षिप्त रूपसे उन्हें मिला दिया है।

सतसईकी सर्वश्रेष्ठ पुरानी गद्य टीका "हरिप्रकाश" भी -अब अप्राप्य हो चली है, उसकी भी रक्षा होनी चाहिये।

नये रंगढंगके टीका तिलक तो बनते ही रहेंगे, इन पुराने रत्नों-

की भी खबर लेनी जरूरी है—अनुपलब्धि की धूल से निकालकर इन्हें भी साहित्य की हाट में सजाना चाहिये। साहित्यनुरागी सतसईके प्रेमी इस ओर ध्यान दें, इस प्रसग में यही प्रार्थनीय है।

प्राचीन टीकाओंसे सतसई सञ्जीवनकी रचनामें जो अमूल्य साहाय्य मिला है, वह नामोल्लेखपूर्वक प्राय उन्हींके शब्दोंमें, कहीं अपनी भाषामे लिख दिया है। अलकारादिनिर्देशमे इन्हीके भावाको अभिव्यक्त करनेके अभिप्रायसे, कुवलयानन्द, साहित्य-दर्पण, काव्यप्रकाशादि सस्कृत ग्रन्थोंसे तथा "भाषाभूषण" आदिसे अवतरण देकर लक्षणसमन्वय कर दिया है। "गाथासप्तशती" "आर्यासप्तशती' आदि इस विषयके आकर ग्रन्थोंसे दोहोंके उपजीव्य पद्य उद्धृत करके यथामति तुलनात्मक समालोचना लिख दी है। समानार्थक सूक्तिया दे दी हैं

यह सब कुछ किया है पर फिर भी 'भोजदेव' की उल्लिखित उक्ति बहुत जगह चरितार्थ होती दिखाई देगी।

विद्वद्वरेण्य महनीयचरित्र प्राचीन टीकाकारोंका (तथा जिन उदारचेता सज्जनोंसे यह अलभ्य ग्रन्थ-रत्न प्राप्त हुए उन सबका) नितान्त अनुगृहीत और अत्यन्त उपकृत हू—

'एतेषा महान्तमुपकारभार कृतज्ञतावनतेन शिरसा वहामि, श्रद्धासमन्वितेन चेतसा चिर चिन्तयामि, हर्षगद्गदेन वचसा मुक्तकण्ठमुद्घोषयामि''—

इस भाष्याभासकी कुत्सित कन्थामें कोई चमकता हुआ कीमती टुकडा कहीं दिखाई दे तो वह इन्हींकी खान या दूकानका है। भ्रान्ति यूका और अनौचित्य-मत्कुणका दोष-दश विदग्धताके सुकुमार शरीरमें कहीं चुभता हुआ प्रतीत हो तो उसके उत्पादनका अपराधी लेखकका अज्ञान-प्रस्वेद है।

विवेचक विद्वानोंसे "चरकचतुरानन" के शब्दोंमे प्रार्थना है—

' सभ्या सद्गुरुवाक्सुधासुति-परिस्फीतश्रुतीनस्मि वो,
नाल तोषयितु पयोदपयसा नाम्भोनिधिस्तृप्यति ।
व्याख्याभासरसप्रकाशनमिद तस्मिन् यदि प्राप्यते
क्वापि क्वापि कणो गुणस्य तदसौ कर्णे क्षण दीयताम् ।।

देहली,
शिवरात्रि, मगलवार,
सवत् १९७९ वि०

विदुषा विधेय
पद्मसिंहशर्मा



सम्मतियां

*(बिहारीके विशेषज्ञ श्रीयुत कविवर बाबू जगन्नाथ-
दास जी "रत्नाकर' बी० ए० की सम्मति)*

"श्रीयुत पण्डित पद्मसिंह जी शर्म्मा के बिहारीसतसई पर सजीवन भाष्य का भूमिकाभाग संवत १९७५ में प्रकाशित हुआ था। इसमें उन्होंने बिहारी के कतिपय दोहों की अनेक कवियों की रचनाओं से तुलनात्मक समालोचना करके सतसई का सौष्ठव स्थापित किया था, जिससे हिंदी के लेखकों तथा पाठकों का ध्यान बिहारी की सतसई की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ, और सब लोगों के हृदयों में सजीवन भाष्य के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। आज उसी चिराभिलषित सजीवन भाष्य का एक खण्ड हमारे सामने उपस्थित है। इसमें शर्म्मा जी ने १२६ दोहों का भाष्य लिखा है। उनके लेख के निराले रंग ढंग तथा भाषा की सजीवता ने तो उनके भूमिकाभाग ही से पाठकों के हृदयों पर अपना प्रभाव जमा रक्खा है। उनके विषय में हमारा कुछ कहना स्वयं प्रकाश को दिये से दिखलाना मात्र है।

शर्म्मा जी ने जो बिहारी के दोहों के अर्थ किये हैं उनके विषय में विशेष रूप से सम्मति प्रकाशित करना हम अपने लिए समुचित नहीं समझते, क्योंकि हमने स्वयं भी बिहारी की सतसैया की एक टीका लिखी है, और बहुत से दोहों के भावार्थों पर शर्म्मा जी के मत से हमारा मत भिन्न है। अतः यदि हम यह लिखें कि शर्म्मा जी ने भावार्थ बहुत अच्छे लिखे हैं तो हमको अपनी टीका में उन का ग्रहण करना आवश्यक होजाता है। और यदि हम उनके अर्थों को ठीक न कहें तो हमारा अपने मत पर आग्रह करना समझा

जायगा। इन दोनों ही बातों के लिए हम तैयार नहीं हैं, अत हम इस विषय में कुछ न कहकर केवल इतनी बात मुक्तकण्ठ से कह सकते हैं कि दोहों के भावार्थ जो शर्म्मा जी ने माने हैं उनका प्रकाश बडी अच्छी रीति तथा सरल भाषा में किया है। जिस से पाठक लोग बिना प्रयास ही के उनको समझ ले सकते हैं। जिन दोहों के अर्थों में प्राचीन टीकाकारों के मतों में भेद है उनके कई कई अर्थ भी शर्म्मा जी ने बड़ी सुन्दरता से लिख दिये हैं, जिससे पाठकों को स्वय अर्थों के तारतम्य पर विचार करने का अवसर प्राप्त होता है।

प्रत्येक दोहे में जो अलङ्कार कहे गए हैं उनके लक्षण संस्कृत तथा भाषा ग्रन्थों से उद्धृत करके ऐसी रीति पर समझाए गए हैं कि वे सामान्य पाठकों के भी भली भाँति हृदयगम हो सकते हैं, और उक्त लक्षणों को दोहे पर घटाकर भी दिखला दिया है जिससे अलङ्कार के ज्ञान प्राप्त करने में विद्यार्थियों को बडी सहायता प्राप्त हो सकती है।

प्राय: दोहों की टीका में उन दोहों से मिलते जुलते अन्य संस्कृत अथवा भाषा के कवियों के छंद उद्धृत किये गए हैं। इससे दोहों के अर्थ स्पष्ट होजाने के अतिरिक्त पाठकों को इस बात पर भी विचार करने का अवसर प्राप्त होता है कि एक ही भाव को किस किसने किस किस प्रकार से शब्दों के आभूषण पहनाए हैं।

इस टीका में दोहों का क्रम लालचन्द्रिका के अनुसार रक्खा गया है। इसके विषय में एक यह आवश्यक वक्तव्य है कि यह क्रम आजमशाही कहलाता है और इसको बहुत से लोग औरंगजेब के बेटे आजमशाहका बँधवाया हुआ क्रम समझते हैं। पर उनका यह समझना सर्वथा भ्रममात्र है। वस्तुत यह क्रम जवनपुरनिवासी हरजू कवि ने संवत् १७८१ में बाँधा था, और इसको आजमगढ

के अधीश आजमखा को समर्पित किया था। इन्हीं हरजू कवि ने उक्त आजमशाह के निमित्त एक भाषा अमरकोष भी बनाया था।

बिहारी की सतसई के पढ़ने वालों के निमित्त, हमारी समझ में यह ग्रन्थ अवश्य देखनेके योग्य है, क्योंकि, इससे साहित्यकी बहुत सी बातें ज्ञात हो सकती हैं। भाषा मे यह अपने रग ढ ग का एक निराला ग्रन्थ है।"—*जगन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए०*



(श्रीमान् कविराज 'शकर'' महाराज की सम्मति)

(दोहा)

हो सञ्जीवन भाष्य का, हृदय पद्मपै वास ।
क्यों न विहारीलाल की, कविता करे विलास ॥

(राजगीत)

पण्डित पद्मसिंह शर्म्मा ने, सुन्दर सदनुष्ठान किया।
श्रद्धाधार प्रसिद्ध काव्य का, विस्तृत बोधविधान किया॥
सिद्ध सतसई के पद्यों का, शुभ सञ्जीवन भाष्य रचा।
अर्थ बिहारी की कविताका, हस्तामलक समान किया॥
भूषण धार सजीले दोहे, नाच रहे रस रग भरे।
दूषण दो हा खाकर भागे, खरता का अपमान किया॥
परख पुरानी टीकाओं को, भाव चमत्कृत चमकाये।
अपनी सञ्जीवनी ज्योति का, सबसे मर्ममिलान किया॥
योगयन्त्रसे काव्यकलाका, सारा स्वरस निचोड़ लिया।
मित्रो! ठीक न्यायसे कहिये, कितना अनुसंधान किया॥

देखो उद्धृत किये अनूठे, सरस पद्य कवि लोगों के।
बोलो किस दोहासे किसने, अपना मान समान किया ॥
पाकर इष्टादर्श भाष्य को, वाचक-वृन्द प्रसन्न हुआ।
माना गौरव "रत्नाकर"ने, रञ्जन-रत्न प्रदान किया ॥
भूल चूक बतलाने वाले, मुद्रित लेख समोद पढ़े।
ठीक जिसे जाना वह माना, नेक नही अभिमान किया ॥
व्रजभाषाके कवि-देवों का, कविकुल—इन्द्र विहारी है।
किसी किसी ने सुनकर ऐसा, समझा असदुत्थान किया ॥
रख दो चार कटीले पौदे, निजरचना-फुलवाडी में।
कहिये शर्म्मा जी क्यों इतना, शङ्कर-कृतिका मान किया ॥

(दोहा)

कवितादेवी ने दिये, तुक्कड देव बिसार।
साथ विहारी शक्र के, करती फिरे विहार ॥ १ ॥

—नाथूराम शङ्कर शर्म्मा (शङ्कर)



अंक, द्वीप ग्रह, चन्द्र ते संवत लेहु टटोल,
छिपी छटा छाई जगत छप्यो ग्रंथ अनमोल।

"चेताव"



विहारी–सतसई

संजीवनभाष्य

पद्मसिंहशर्मा

विहारी–सतसई

—*सञ्जीवनभाष्य*—

टीकाकारका मङ्गलाचरण

१— नानार्थदा सुफल-पल्लव-कल्पवल्ली
स्यन्दद्रसैकवसति सुमनोभिरामा । *
गोपीविहारि-हरि चारु चरित्रहारि-
श्रीमद्विहारि-कविराज सरस्वतीयम् ॥

२— सानेकैर्भिन्नमतिभि पदच्छेदैरनेकधा ।
विकृष्टा विकृतिं प्राप पुलिन्दैरिव नन्दिनी ॥

३— कुव्याख्या-विषमज्वालाप्रसादे कवलीकृताम् ।
अनष्टमूला तामेतज्जीवन जीवयिष्यति ॥

४— क विहारि-कवेर्वाचो महतामपि मोहिका ।
चञ्चला स्वल्पविषया मतयश्च क माद्रृशाम् ॥

५— श्रीविहारिगिरां तत्त्वं श्रीविहारी सरस्वती ।
यद्वा वेद स कुञ्जश्रीविहारी मत्प्रियो हरि ॥

६— श्रीमत्सुरतिमिश्राद्यै कृते पथि तथापि मे ।
वचसा चेष्टमानाना न गतिभ्रंशमेष्यति ॥

७— श्रीमद्विहारि-पद्येषु विश्वहृद्येषु सन्मतम् ।
पद्मशर्मा [पद्मसिंह] प्रकुरुते भाष्य सञ्जीवनाभिधम् ॥

---

* इयं सरस्वती कल्पवल्ली । कुत ? यतो नानार्थदा शोभन फलमर्थव नृत्त्वरूप येषा, तेषा पदा-पदाना, लवा खण्डा श्लिष्टा शब्दा , तेषा कल्प विकल्पा , यस्या तादृशी वल्ली । यद्वा — कल्पलता । पक्षान्तरे सुगमम् सुमनसा— देवाना, सचेतसा वा, सुमनोभि पुष्पैर्वा अभिरामा ।



विश्व-विहारी-देवका पाय प्रसाद-प्रकाश ।

कविताके सुरत-पद्मका बढता रहे विकाश ॥

श्रीमान् तत्रभवान् परमसुजान कविवर श्रीबिहारीलालजी ग्रन्थके आदिमें शास्त्रानुमोदित शिष्टसम्प्रदायानुसार अपने इष्टदेवताकी प्रार्थनाके रूपमें "आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण" करते हैं। इस आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरणका प्रयोजन ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिके अतिरिक्त यहाँपर यह भी है कि प्रस्तुत ग्रन्थ (बिहारी सतसई) शृङ्गाररस प्रधान है। इसमें शृङ्गार रसके अधिष्ठातृदेव श्रीकृष्णजी और श्रीराधिकाजीकी रहस्यकेलियों-का वर्णन करना है। उससे ग्रन्थकर्त्ता और पाठकोंका मन, विकार-को प्राप्त न हो, इसलिये यह आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया। इसमें देवविषयक रति भाव ध्वनि है।

मंगलाचरण

१

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तनकी झाईंपरें स्याम हरित-दुति होय॥

अर्थ—(सोय)—वह पुराणादिप्रसिद्ध परन्तु एकान्ततः भक्त-वत्सला (राधा नागरि)— नागरी—भक्तोंके भय हरनेमें परम प्रवीण- श्रीराधिकाजी, (मेरी भवबाधा हरो)— मेरे जन्ममरण की पीड़ा और सांसारिक दुःखोंको दूर करें। वह राधाजी कैसी हैं— (जा तनकी झाँई परें)— जिनकी कायाकी कान्ति पड़नेसे (स्याम हरित दुति होय) श्रीकृष्णजी हरे—परमानन्दित—होजाते हैं।

"हरा होना" मुहावरेमें प्रसन्न या खुश होनेको कहते हैं। जैसे किसी अत्यन्त स्नेहशील मित्रके विषयमें कहते हैं कि वह हमें देखकर हरे हो जाते हैं।

२—अथवा— जिन राधिकाजीके पीतवर्णकी कान्ति पड़नेसे श्रीकृष्णजीका श्याम रंग, हरा—(हरे रंगका)—हो जाता है। पीला और नीला रंग मिलनेसे हरा रंग बन जाता है—यह प्रसिद्ध है।

हरित रंगकी झाँईं (कान्ति—छाया) में सन्तापहरणका सामर्थ्य सर्वाधिक है, फिर जिस छायासे श्याम (तमोगुण)भी हरित— दूसरों को शान्ति देने वाला बन जाता है उसका स्वयं भवबाधा हरनेमें अनुपम सामर्थ्यशाली होना उचित ही है।

हरितद्युति न चम्पकवर्णी राधाकी है और न घनश्याम की। किन्तु इन दोनोंके–राधाश्यामके–मेलसे शान्तिप्रद हरितवर्ण की उत्पत्ति है, इस अर्थसे कविका भाव यह ध्वनित होता है कि शक्ति शून्य ब्रह्म, अथवा ब्रह्मविरहित शक्तिकी उपासनामें शान्ति नहीं है। जो भक्तजन शक्तिविशिष्ट ब्रह्म अथवा सगुण ब्रह्मके उपासक हैं, वह भवबाधासे छूटकर शान्ति पाते हैं।

३—अथवा– 'हराहोना' और 'सरस' कहना, एकही बात है। जिस पदार्थमें 'रस' होता है वही 'हरा' कहलाता है। जैसे— 'हरी टहनी' ——

"जामें रस सोई हर्यो यह जानत सब कोय।
गौर श्याम द्वै रंग बिनें हरयो बनत नहि कोय॥"

(नागरीदासजी)

इससे यह भाव प्रकट होता है कि राधाजीकी छायासे— कृपासे— श्रीकृष्ण 'सरस'होते हैं—"रसिक विहारी"— कहलाते हैं।

४—"जातनकी झाँई—(जिस राधाके अंगकी कान्ति) स्याम परे—(कृष्णका प्रतिबिम्ब पड़नेसे) हरितदुति होइ—(हरी) होती है।"— यह उलटा—(आधाराधेयभाव-वैपरीत्यात्मक) अर्थ— 'विहारी विहार'के कर्त्ता श्रीव्यासजीका है।

"मेरी भवबाधा" शब्दमें उपासकबोधक "मेरी" पद-से—"जगन्नाथन्याय सुरधुनि ! समुद्धार्यमय ।" के समान अपनी अधमतानिशयता-द्योतनद्वारा इष्टदेवकी निरतिशय महिमाकी ध्वनि निकलती है। अर्थात् मुझ जैसे आदर्श अधमकी निरवधिक भवबाधा दूर करनेमें वही श्रीराधारानीजी समर्थ हैं जिनकी आराधनाके अभिलाषी इन्द्रादिके उपास्य देव त्रिलोकीनाथ श्रीकृष्णभगवान् भी रहते हैं। जितना भारी पापी हो उसे पार उतारनेवाला भी उतना ही अधिक समर्थ होना चाहिये। तथा उपास्यदेवता श्रीराधाजी के साथ प्रयुक्त "नागरी"—

"(नागर मुन्नक शुल्था 'निदग्धे' नगरोद्भवे " इति मेदनी)।

विशेषण भी पापापनोदन पटुताका द्योतक है। जितना कष्ट-साध्य रोगी हो उसके लिये उतना ही दिव्यौषध-मंत्र सिद्ध-पाणि वैद्य अपेक्षित है।

काव्यप्रकाशके ध्वनिप्रकरणोदाहृत—

"त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥"

पद्यके 'त्वा' 'अस्मि' 'विदुषा' आदि शब्दोंके समान "मेरी" पदमें लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य अर्थान्तरसंक्रमित रूप-ध्वनि है।

पहले अर्थमें "काव्यलिङ्ग" अलङ्कार है। उसका लक्षण.—

"समर्थनीयस्यार्थस्य 'काव्यलिङ्ग' समर्थनम् ।
जितोऽसि मन्दकन्दर्प! मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचन ॥"

(कुवलयानन्द)

"काव्यलिङ्ग' जब जुक्ति सों अर्थ समर्थन होय ।
तोको जीत्यो मदन ! जो मो हिय मे गिरि सोय ॥" (भाषाभूषण)

अर्थात् समर्थनीय अथका जब युक्तिसे समर्थन किया जाय तो "काव्यलिङ्ग" अलङ्कार होता है। जैसे यहां भवबाधा-हरणका समर्थन श्रीराधाजीके अलौकिक-प्रभाव-कीर्त्तन द्वारा किया गया।

"नागरी"—यह साभिप्राय विशेषण होनेसे 'परिकर' अलङ्कार भी है। यथा —

"अलङ्कार 'परिकर' साभिप्राये विशेषणे ।
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः ॥" (कुवलयानन्द)

"है 'परिकर' आशय लिये जहा विशेषन होय ।
शशिवदनी यह नागिका ताप हरति है जोय ॥"

(भाषाभूषण)

दूसरे अर्थमें "हेतु" अलङ्कार है —

"हेतोर्हेतुमता सार्द्धं वर्णनं 'हेतु' रुच्यते ॥"

"'हेतु' अलङ्कृति होय जब कारण कारज सङ्ग"

अर्थात् जहा हेतु (कारण)-पूर्वक हेतुमान्-(कार्य्य) का वर्णन किया जाय, वह 'हेतु' अलङ्कार कहाता है— जैसे यहां राधाजीका पीत वर्ण और श्रीकृष्णजीका श्याम वर्ण, हरे रंग के होनेमें कारण है।

अनवरखा(अनवरचन्द्रिकामें)और ईसवीखा (रसचन्द्रिकामें) इस अर्थमें "विषमालङ्कार" भी मानते हैं। यथा —

"कारनको रँग और ही कारज औरे रग।
यह विषमालङ्कारको कियो भेद छवि सग ॥"

(अनवरचन्द्रिका)

"कारन और रग होइ कारज और रग होइ मोई इहां गौर स्याँम तें हरित रग होइ है।" (रसचन्द्रिका)

पर श्रीलल्लूलालजी (लालचन्द्रिकामें) इसका खण्डन करते हैं, वह "अमरचन्द्रिका" का 'हेतु' — अलङ्कारनिदर्शक यह दोहा लिखकर—

"हेतु सहित कारज जहां कहै 'हेतु' कविराज।
प्रिया पीत रँग स्याम पिय हेतु हरित रँग काज ॥"

कहते हैं कि "इस अर्थमें कोई 'विषमालङ्कार' कहे तो ठीक नहीं, क्योंकि पीत और श्याम रग मिलेने हरा रग होता ही है जो हरा रग न हो और रग हो तो 'विषमालङ्कार' ठीक है। प्रमाण विषमालङ्कारका —

"कीर्ति प्रसूते धवला श्यामा तव कृपाणिका "—

इस पद्यका पूर्वार्ध लक्षणवाक्य—"विरुद्धकार्य्यस्योत्पत्तिर्यत्र 'विषम' मतम्" है। अर्थात् जहाँ कारण-कार्यकी परिपाटीके विरुद्ध, कारणके गुणसे भिन्न गुणवाले कार्यकी उत्पत्ति हो, वह विषमालङ्कार है। जैसे—तुम्हारी काले रंगकी तलवार श्वेत कीर्तिको उत्पन्न करती है। यहाँ काली तलवारसे श्वेतकीर्तिकी उत्पत्ति, विषमालङ्कारका उदाहरण है।

शृङ्गारसप्तशतीकर्त्ता कवि परमानन्दके कथनानुसार इस अर्थमें "उल्लासालङ्कार" है —"अत्र राधायाः पीतगुणेन कृष्णस्य हरिद्वर्णगुणलाभश्चोल्लासालङ्कारः" । इति।

इसका लक्षण —

"एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि ।
अपि मा पावयेत्साध्वी स्नात्वेतीच्छति जाह्नवी ॥"

(कुवलयानन्द)

"गुन औगुन जब एकके और धरै 'उल्लास' ।
न्हाय सन्त पावन करै गङ्ग धरे इहि आस ॥ (भाषाभूषण)

जैसे प्रकृतमें राधाके पीत वर्णरूपी गुणसे श्रीकृष्णको हरा वर्णरूप गुण प्राप्त होगया।

"भवबाधा"में 'भव' शब्दकी अनेकार्थताको लक्ष्यमें रखकर ('भव' शब्द—शिव,संसार, जन्म, इत्यादि अनेक अर्थोंका वाचक है)—अनवरखाने "श्लेषाभास" भी लिखा है। अर्थात् 'भवबाधा'-समस्तपदगत भवशब्दमें "हे भव शिव ! मेरी बाधा हरो" इत्यादि भ्रम होता है। वस्तुत यहाँ इष्टदेवता राधा ही सम्बोध्य हैं,शिव नहीं।

५—अथवा— जिनके तनकी झाँई (ज्योति) पडनेसे—ध्यानमें आनेसे—श्यामत्व-"अन्धकारविशिष्ट तमोगुण, या हृदयान्धकार"—हरित—दूर—होकर 'द्युति'—प्रकाशविशिष्ट सत्त्वगुण चमक उठता है। वह राधा मेरी भवबाधा हरो। इस अर्थमें भी "काव्यलिङ्ग"ही अलङ्कार है। ६

नोट —यहाँ यह आशङ्का होती है कि अपनी झाँई से श्रीकृष्णको हरा करना तो भवबाधा-हरणका पोषक नहीं है, फिर श्यामशब्द विशेषण क्यों ? उत्तर यह है कि जिसकी झाँई पड़नेसे—ध्यानगोचर होनेसे—श्याम हरित—पापका हरण—होता है और दुति होइ—दिव्य देह होता है"— व्यासजी।

६—अथवा— कहीं "राधानागर"—ऐसा पाठ भी है। इस दशामें श्रीकृष्णपरक अर्थ — अर्थात्— वह "राधानागर" श्रीकृष्णजी, जिनकी मूर्त्ति की झलक पडनेसे—भक्तजनोंके ध्यानमें श्याम (कृष्ण)के आते ही वह (भक्त) अपना रूप तजकर हरिरूपको प्राप्त हो "सारूप्य मुक्ति"पाजाते हैं। इस अर्थमें "तद्गुणालङ्कार" है। उसका लक्षण —

"तद्गुण स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रह" ।
पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधरत्विषा ॥" (कुवलयानन्द)
" तद्गुन तजि गुन आपनो सङ्गतिको गुन लेयँ ।
वेसर मोती अधर मिल पद्मराग छवि देय ॥ " (भाषाभूषण)

अर्थात्—अपना गुण छोडकर दूसरेका गुण ग्रहण करलेना 'तद्गुणालङ्कार' कहाता है। जैसे प्रकृतमें श्रीकृष्णकी कान्ति पडनेसे —(ध्यानमें श्रीकृष्णके आते ही)— अपना रूप छोड़कर, भक्त कृष्णस्वरूप बन गया।

—※—

(मङ्गलाचरणका शृङ्गार-परक अर्थ)

बहुतसे सहृदय रसिकशिरोमणि इस प्रकार रूखे फीके भक्तिभावनाभरित श्रोत्रियसमादृत विरक्तजिज्ञासुजनाचित मङ्गलाचरणको सुनकर नाक भौं चढाते हैं और कहते हैं कि यह "गङ्गाकी गैलमें मदारके गोत" कैसे ! विहारीसे शृङ्गारी कविकी शृङ्गारमयी रचनामें, जो परमविहारी गोपिकाचोरहारी राधिका-हृदयचारी श्रीमुरारि और वृषभानुदुलारी श्रीराधाप्यारीकी गूढ़ केलियोंके रहस्योद्घाटनार्थ रची गयी है, ऐसा मङ्गलाचरण नितान्त 'अमङ्गलाचरण' है। और यह 'अमरुशतक'की शान्त-रस-परक टीकाको लक्ष्य करके कहे हुए स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसादजीके शब्दोंमें—

"रसिकरसिकमनस्ये प्राकरभुक्ता वेदपाठ इव सहृदयानां शूलमुत्पादयति ।"

ऐसे महानुभावोंके सन्तोषार्थ श्रीहरि कविने इस मङ्गलाचरण को शृङ्गारपक्षमें भी परिणमित किया है, सो भी सुनिये —

१—अथवा—नायिका-(श्रीराधा)को मानिनी देखकर नायक-(श्रीकृष्ण) प्रार्थना (मिन्नत, खुशामद) करते हैं कि "हे राधानागरि ! मेरी भी-(भय) बाधा, हरो, अर्थात् तुम्हारा

न (कोप=नाराजगी) देख कर जो मुझे भौ (भय)-है
तसे उत्पन्न बाधा (दुःख) को हरो। अभिप्राय यह है कि
न छोड प्रसन्न हो जाओ। (अगली बात ज़रा गोप्य है,
लभ्य समाज" क्षमा करें, "अनुवादी न दुष्यति"— नायक
हात्मा मान छोडनेका ढँग बताते हैं और कामकी बातपर
ाते हैं—"क्या करके, "सोय"—या को अर्थ हमारे पास शयन करिके।"
म्हारे तनकी कान्ति पडनेसे हमारा (श्रीकृष्णका) जो
ह श्याम शरीर है सो "मानन्द होत है॥" क्यों न हो ? हुआ
ही चाहे !

२—अथवा—तुम्हारे तनकी झाँई (कान्ति)जब मिलाप-
के (समागमके) समय हमारे शरीरमें पडती है तब श्याम—
श्यामवर्ण शृङ्गाररस या (रतिपति) काम—"सो पल्लवित
होत है ।"

कामदेव और शृङ्गाररस दोनोंका वर्ण श्याम है। सो
यहाँ "साध्यवसाना" लक्षणा करके "श्याम" पदसे श्याम-
वर्णविशिष्ट "काम" या "शृङ्गार"का ग्रहण करना चाहिये।
"साध्यवसाना" लक्षणाका लक्षण यह है —

"विषय्यन्त कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ।"

विषयिणा-आरोप्यमाणेन, अन्त कृते-निगीर्णे,अन्यस्मिन—आरोपविषये सति साध्यवसाना स्यात् । (काव्यप्रकाश, द्वितीयोल्लास)

अर्थात् जहां विषयिमात्र=(केवल'उपमान'पद-पशु आदि)का
निर्देश किया जाय और विषय=(उपमेय, देवदत्तादि)का न
किया जाय, वहा "साध्यवसाना" लक्षणा होती है। जैसे—"देव-
दत्त पशु जाता है"—ऐसा न कह कर "यह पशु जाता
है"—इतना ही कहा जाय तो 'साध्यवसाना' लक्षणा होगी।

क्योंकि यहां विषयी (आरोप्यमाण)='पशु' पदसे अन्य (आरोप-विषय)='देवदत्त' निगीर्ण-(छिपा हुआ) है । इसी प्रकार यहां प्रकृतमें "आरोप्यमाण" श्यामगुणसे 'आरोप्य' (श्याम-वर्ण विशिष्ट) शृङ्गार या 'काम' लक्षित होता है ॥

३—अथवा—तुम्हें देखे और तुमसे मिले विना हमें कुछ नहीं सूझता, चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दीखता है, जब तुम्हारी प्रभा पडती है तब ही 'श्याम हरित=अन्धकारा-वृत दिशाओंमें द्युति=प्रकाश होता है। (दिशस्तु ककुभ काष्ठा आशाश्च हरितश्च ता)

जिसमें अत्यासक्ति होती है उसके विना सर्वत्र अन्ध-कार ही प्रतीत होता है। भर्तृहरिजी लिखते हैं —

"सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु ।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदञ्जगत् ॥"

अर्थ—प्रदीप, अग्नि, तारागण, चन्द्र और सूर्य—इन सब ज्योतिष्मान् पदार्थोंके होते हुए भी मृगनयनी नायिका-के विना मेरे लिये यह सारा संसार अन्धकारमय ही है ॥

'शृङ्गार' रसकी श्यामवर्णतामें प्रमाण —"

"श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवत " (साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद)

अर्थात् शृङ्गारका वर्ण 'श्याम' और देवता 'विष्णु' है ।

'काम'के श्याम होनेमें प्रमाणस्वरूप हिन्दी कवि 'कालिदास'की यह सुन्दर सूक्ति सहृदय पाठकोंके मनोरञ्जनार्थ उद्धृत है। काव्य-मर्मज्ञ देखें कि शृङ्गारपक्षके द्वितीय अर्थ—(तुम्हारे तनकी झाँई जब मिलापके समय हमारे शरीरमें पडती है)—का क्या ही साफ शब्दचित्र इस पद्यमें खिंचा है। इससे अच्छा काले गोरेका मेल

कुन्दनकी छरी आबनूसकी छरीसों मिली
सोंनजुही माल कैधौं कुवलयहार सों,
कैधौं चन्द्र-चन्द्रिका कलंक सों कलित भई,
कैधौं रति ललित वलित भई मार सों।
'कालिदास' मेघ माहि दामिनी मिली है कैधौं
अनलकी ज्वाल मिली कैधौं धूम-धार सों
केलि समै कामिनी कन्हैया सों लपटि रही
कैधौं लपटानी है जुन्हैया अन्धकार सों ॥"

इसी प्रकार स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी भी " कर्पूरमञ्जरी " नामक सट्टकमें शृङ्गारका कृष्णवर्ण वर्णन करते हैं

"चोटी गुथि पाटी सरस, रमिरैं बांध केस।
मनहु सिंगार इकत्र ह्वै, वेश्या वार के वेस ॥"

वानिक-वर्णन

२

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
इहि वानिक मो मन वसो सदा विहारीलाल ॥

अर्थ—हे विहारीलाल! तुम (इहि वानिक)-इस बनावसे-नटवर वेषकी धजसे -(मो मन सदा वसो)-मेरे हृदयमें सदा निवास करो—मेरे हृदय-धाममें ही विहार करो, इसे छोड़कर कहीं मत जाओ। अथवा—आपका यह वानक-गोपवेष, सदा मेरे मनमें बसा रहे, कभी न विसरे। यह वानक कैसा है- (सीस मुकुट)—सिरपर मोर मुकुट, (कटि कॉछनी)—कमरमें काछनी

१ सोनजुही-पीली चमेली। कुवलय—नील कमल। मार- कामदेव। जुन्हैया— ज्योत्स्ना—चांदनी।

कच्छ- घुटनेके ऊपर तककी धोती, जैसी ग्वाले लोग बांधते हैं—(कर मुरली)- हाथमें बाँसरी और (उर माल) – छातीपर वनमाला।

यह भी कविका मङ्गलाचरण है। या भक्तका वचन है। देवविषयकरति-भाव व्यङ्ग्य है। अथवा — गोपीकी उक्ति है।

यहां "स्वभावोक्ति" अलङ्कार है, इसीका दूसरा नाम "जाति" है। स्वभावोक्तिका लक्षण —

"स्वभावोक्ति स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्।
कुरङ्गैरुत्तरङ्गाक्षै स्तब्धकर्णैर्दीक्ष्यते॥" (कुवलयानन्द)

"स्वभावोक्ति' यह जानिये वर्नन जाति सुभाय।
हँसि हँसि हेरति फिर दुरति मुरत मोरति मुसकाय॥" (भाषाभूषण)

अथवा—'जाति' सु जैसो जासु कौ रूप कहे तिहि साज।
ज्यौं त्यौ प्रभु बानिक जु हो कह्यो सु त्यों कविराज॥ (अमरचन्द्रिका)

अर्थात् जिस वस्तुका जैसा स्वभाव हो उसका वैसा ही चमत्कारपूर्वक वर्णन कर देना, 'जाति' या 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार कहाता है। जैसे 'कुवलयानन्द'के उदाहरणमें—चौंके हुए हिरनोंके देखनेके ढंगका। "भाषाभूषण"के उदाहरणमें—पूर्वानुरक्ता,प्रेमासक्ता लज्जाप्रेमपरवशा नायिकाके अवलोकनप्रकारका। और यहाँ प्रकृतमें—नट-वरवेषधारी श्रीविहारीकी सजधजका, कविने शब्द-चित्र खींच दिया है।

२—अथवा—जिस प्रकार सिरका और मुकुटका सुयोग है, सिरके विना अन्य अङ्गपर मुकुट शोभा नहीं पाता। कच्छ-(काँछनी)— कमरपर ही सुहावनी लगती है, मुरली, हाथमें ही सजती है, और माला हृदयका ही शृङ्गार है। इसीप्रकार भक्तजनका मन ही भगवान्‌के निवास करने योग्य सुन्दर मन्दिर है, सो उसीमें है विहारीलाल। आप अपना 'हेडक्वार्टर' नहीं

'राजधानी' बनाकर रहिये। इधर उधर घूमनेकी बान छोड़िये। यद्यपि आप "विहारीलाल" (हरजाई!) हैं, पर अच्छी तरह ढूंढ देखिये, इससे अच्छी जगह कहीं न पाइयेगा। मनो-मन्दिर ही भगवान्‌की प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके लिये उपयुक्त स्थान है।

इस अर्थमें "समालङ्कार" है। लक्षण —

"सम स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयो ।
स्वानुरूप कृत सद्म हारेण कुचमण्डलम् ॥" (कुवलयानन्द)

"अलङ्कार—'सम'(तीन विधि) यथा योग को संग।"

उदा०— "हार वास तिय उर रच्यो अपने लायक जोय"।

अर्थात् जो जिस योग्य है उसके अनुरूप स्थानादिकी प्राप्तिका जहां वर्णन हो, वहां 'सम' अलङ्कार होता है। जैसे यहाँ सिर मुकुट आदिकी एक दूसरेके अनुरूप संगतिका कथन है।

मुकुट आदि अनेकोंमें यथायोग्यस्थान-स्थितिरूप एक क्रियाकी समता होनेसे "तुल्ययोगिता" अलङ्कार भी हो सकता है।

३—अथवा, (शृङ्गार पक्षमें)—'खण्डिता' नायिकाकी 'शठ' नायक (विहारीलाल) से सोपालम्भ उक्ति है कि—तुम्हारा जो यह नटवरवेष अर्थात् परस्त्रीको प्रसन्न करनेका वेष—रिझानेका बाना—है, इससे तुम मेरे मनमें रहो, पर पास मत बसो—(पास मत फटको!)— क्योंकि तुम "विहारीलाल" हो—जगह जगह विहार करनेवाले हो! —

("एकजा रहते नहीं आशिक़े-बदनाम कहीं,
दिन कहीं, रात कहीं, सुबह कहीं शाम कहीं !")

४—अथवा, "वि"* नाम दूसरी नायिका, उसका "हार" गलेमें डाले डोलते हो। (जो तुम्हारे विहारीपनका ढोल पीट रहा है !) और "लाल" हो– रात भर जगे हो– इससे आँखें लाल हैं। या उस नायिकाके पानकी पीक, पैरोंकी महावर और हाथोंकी मेंहदीकी लालीने श्रीमान्‌के श्यामसलौने शरीरको लाल सुर्खकरके 'शठता' पर छाप लगा दी है ! खूब श्यामसे लाल (श्यामलाल ! बने हो, बने रहो ! "देखो लै मुकुर दुति कौनकी अधिक लाल ' मेरी लाल चूनरी तिहारी लाल अँखियां।"

'यशवन्तयशोभूषण' में इस दोहेके यह दो अनुवाद दिये हैं —

य ... ड्श ।

ग ... द ॥"

मोरम ... न्द ।

मनु ... न्द ॥

... मुकुटकी

चन्द्रिक ... रपखके

चँदचोंसे– (यौं राजत)—ऐसे शोभित हो रहे हैं, (मनु)—मानो

* संस्कृतका "द्वय" शब्द ब्रजभाषामें 'विय' या 'बि' बन गया है, और यही गुजरातीमें "बीजो" (दूजा) और 'बे' (दो) हो गया है ।

(ससिसेखरकी अकस ।)—चन्द्रमौलि शिवजीकी ईर्ष्या—स्पर्द्धासे—उन्हें नीचा दिखानेके लिये (किय सेखर सतचंद)—अपना मस्तक शतचन्द्र—सौ चन्द्रमावाला बना लिया है। अर्थात् शिवजीके भालपर तो एक ही बालचन्द्र है, यहा उसके मुकाबलेमें पूरे सौ चाँदोंकी चन्द्रिका चमक रही है।

यदि इसे भक्तकी उक्ति मानें तो देवविषयक रति-भाव ध्वनि है। जो दूतीकी उक्ति नायिकाके प्रति होय तो शृङ्गार व्यङ्ग्य है। और जो सखीका कथन सखीके प्रति समझें तो राजविषयक रतिभाव ध्वनि है। ‡

इस दोहेकी टीका करते हुए प्राय टीकाकार " अकस " शब्दको लेकर बडी बडी दूरकी कौडी लाये हैं, लम्बे चौडे प्रश्नोत्तर गढकर बातका बतंगड बना डाला है। श्रीशिव और श्रीकृष्णके नये पुराने, छोटे बडे, गुप्त, प्रकट, ज्ञात, अज्ञात, बहुतसे वैर विरोध ढूढ निकाले हैं। ॐ उनमेंसे कोई कहते हैं कि शिवजीने कामको (जो

स्पर्धा—होड—अर्थमें "अकस" शब्दका प्रयोग 'दास' कविने भी किया है यथा— " द्विजराज भो अकस द्विजराजीकी प्रभा न की।" अर्थात् राधाके दांतोंकी प्रभा पानेकी स्पर्धासे चन्द्रमा 'द्विजराज' बना है।

‡ यहां और दूसरे दोहेमें एक प्राचीन टीकाकारने "शान्तरस व्यङ्ग्य" लिखा है, जो असङ्गत है। क्योंकि जहां निर्वेद स्थायी भाव हो वहीं शान्तरस होता है। यहाँ और वहां तो वक्ताके वचनोंसे उसका अपने इष्टदेवमें परम अनुराग—(रतिभाव)—टपक रहा है, फिर 'शान्तरस' कैसा !

ॐ किसीने अपनी 'सख्त अकलमन्दी'से 'उत्प्रेक्षावाचक "मनु" को शिवजीका "मन" बनाकर उसमें 'अकस'—वैमनस्यता (?) को छिपाकर फिर खुद ही उसे ढूढ निकाला है। यह ऐसी ही बात है जैसे अक्सर बच्चे खेलते समय किसी चीज़को रेतमें छिपाकर फिर आप ही तलाश करके निकाला करते हैं, और अपनी इस 'अनुसन्धान शक्ति'पर इतराते हैं।

प्रद्युम्नरूपमें श्रीकृष्णके पुत्र हुए) जलाकर भस्म किया था—यह अदावत थी। किन्होंने बाणासुरकी याद दिलाकर कहा है कि उसीका बदला शिवजीसे चुकानेके लिये श्रीकृष्णने 'मोरमुकुट' धारण किया है! परन्तु यह नहीं सोचा कि यह तो गोपवेषधारी वृन्दावनचारी वनवारीकी व्रजलीलाका बानक है*। जब शिवजीने नेत्राग्निसे भस्मकरके 'काम'का काम तमाम किया था, तब श्रीकृष्ण-का अवतार न था और जब बाणासुरके युद्धमें शिवजीको उन्होंने छकाया था, तब यह 'मोरमुकुटका बानक' न था! और न उस समय श्रीकृष्ण "व्रजवासी" थे किन्तु "द्वारकाधीश" बने हुए थे। इत्यादि—"इतिहासानौचित्य"—पर इन दूरदर्शी टीकाकारोंने कुछ ध्यान न देकर शिव विष्णुके वैरकी बात व्यर्थ ही बढ़ायी है। एक तो यह ऐसे महात्मा हैं जो बिना परका कौवा बनाकर उड़ा रहे हैं और एक महिम्नस्तोत्रके स्तुत्य टीकाकार श्रीमधुसूदनसरस्वती हैं, जो 'हरि-हर'में अभेदबोध† करानेके लिये पूरा जोर लगाकर

* "बर्हेणेव स्फुरित-रुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥"

भगवान् कालिदासके इस बयानसे भी इस बातकी तसदीक होती है कि मोरपखका मुकुट श्रीकृष्णजीके 'गोपवेष'में ही था।

† "हरिशङ्करयोरभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात्।
उभयार्थतया मयेदमुक्तं, सुधियः साधुतयैव शोधयन्तु ॥"

"भूति-भूषित-देहाय द्विजराजेन राजते।
एकात्मने नमो नित्यं हरये च हराय च ॥

(महिम्नस्तोत्रकी टीकामें श्रीमधुसूदनसरस्वती)

"अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतम् —

व्याजस्तुति में उदाहृत इस प्रसिद्ध पद्यके इस पदमें हरि-हरात्मक स्वरूपका एक विग्रह=एकशरीर तो कहा है, पर हरिहरमें "विग्रह"=वैर=विरोध—नहीं।

साम्प्रदायिक विरोधको दूर कर रहे हैं! अन्तर महदन्तरम्। इसके अतिरिक्त इस दशामें—(शिवजीसे 'अकस' के कारण श्रीकृष्णके मोरमुकुट धारण करनेको सच मानकर अर्थ करनेमें)—'उत्प्रेक्षा' ही उड़ जायगी। जो इस दोहेका सर्वसम्मत मुख्य अलङ्कार है। क्योंकि कविप्रतिभोत्थापित सम्भावना (कल्पना) ही 'उत्प्रेक्षालंकार है। यथास्थित वस्तु वर्णनका नाम 'उत्प्रेक्षा' नहीं।

इसी प्रसगमें हरिकवि कहते हैं—"और जो ईर्ष्या होय तो उत्प्रेक्षा माच में नहीं होय।" अर्थात् यदि सचमुच ही शिवजीसे श्रीकृष्णको ईर्ष्या थी और उसी ईर्ष्याके कारण उन्हें नीचा दिखानेको श्रीकृष्णने मोर-मुकुट धारण किया था, ऐसा समझें—तो "उत्प्रेक्षा" नहीं बनेगी, क्योंकि वह 'सांच'(वास्तविक रूप) में नहीं होती।

यहा "असिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा"—अलङ्कार है। कृष्णजीके शतचन्द्रिकासमन्वित मोरमुकुटके धारण करनेमें यद्यपि शिवजीसे 'अकस' (ईर्ष्या) और उन्हें नीचा दिखाना हेतु नहीं है, तथापि उसे (कल्पित अकस को) हेतु मान लिया गया है, इसलिये "हेतूत्प्रेक्षा"है — 'अकस' वास्तवमें असिद्ध है (नहीं है)—इस कारण "असिद्धास्पदा' है। अर्थात् आस्पद=सम्भावनाका विषय-(जिसमें हेतुत्वकी कल्पना की गयी है ऐसा) जो 'अकस' है, वह असिद्ध है। तथा वाचक-'मनु' पदके होनेसे "वाच्योत्प्रेक्षा" है। उत्प्रेक्षाका लक्षण——

"सम्भावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तु-हेतु-फलात्मना।
उक्तानुक्तास्पदाऽऽद्याऽत्र सिद्धासिद्धास्पदे परे॥" (कुवलयानन्द)

"उत्प्रेक्षा सम्भावना वस्तु-हेतु-फल लेखि"—,

१—"नैन मनो अरविन्द हैं सरस विलास विसेषि॥"
२—'मनो' चली आगन कठिन तातें राते पाय।
३— तुव पद समता को कमल जल सेवत इक पाय॥

'सेखर' पद (उत्तरार्धमें) दो बार आया है, इसलिये "लाटानुप्रास" अलङ्कार भी है। लक्षण —

"शब्दार्थयो पौनरुक्त्य भेदे तात्पर्य्यमात्रत ।
"लाटानुप्रास" इत्युक्त ॥" (साहित्यदर्पण)

उदाहरण—यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥

लक्षण— " सो 'लाटानुप्रास' जहँ पदकी आवृत्ति होइ ।
शब्द अर्थके भेदसों, भेद बिना ह्व होइ ॥ "

उदाहरण—"पीय निकट जाके नहीं, घाम चाँदनी ताहि ।
पीय निकट जाके सखी!, घाम चाँदनी ताहि ॥"

२—"जाकी यहा चाहना है वाकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहा चाहना है वाकी यहा चाहना है ।"

३—"दूषण जामें रञ्च नहीं, उत्तम कविता सोय ।
दूषण जामें रञ्च, नहीं उत्तम कविता सोय ॥"

यदि मोरमुकुटसे अलंकृत नायक (श्रीकृष्ण) को दिखानेके बहाने रुचि उत्पन्न कराकर दूती, नायिकाको उनसे मिलाना चाहती है तो परेष्टसाधनरूप 'पर्यायोक्त' अलङ्कार है। और यदि सखी, अपनी सखी (मानिनी नायिका) को उसका मान छुडानेके लिये मोरमुकुट की शोभा वर्णन करनेके व्याजसे श्रीकृष्णको दिखाना चाहती है तो 'स्वेष्टसाधनरूप पर्य्यायोक्त' है। क्योंकि सखी और उसका प्रिय उसके (दिखानेवाली सखीके) इष्टतम हैं (इसलिये उनका काम उनका अपना ही काम है !)

पर्यायोक्त-लक्षण —"पर्य्यायोक्त तदप्याहुर्यद्व्याजेनेष्टसाधनम् ।
परेष्टसाधनोदाहरण —"यामि चूतलता द्रष्टु युवाभ्यामास्यतामिह ॥"
स्वेष्टसाधनोदाहरण —देहि मत्कन्दुक राधे ! परिधाननिगूहितम् ।
इति विस्रंसयन्नीवीं तस्या कृष्णो मुदेऽस्तु व ॥" [कुवलयानन्द]

"पर्यायोक्त प्रकार द्वै, [१] कछु रचना सों बात ।
[२] मिसकरि कारज साधिये जो कछु चितहिं सुहात ॥"
"तुम दोऊ बैठो यहा जात अन्हावन ताल ।" [भाषाभूषण]

———

कुण्डल-वर्णन

४

मकराकृति गोपालके कुण्डल सोहत कान
धस्यौ मनौ हिय-घर समर ड्योढी लसत निसान ॥

अर्थ —(मकराकृति कुंडल, गोपालके कान सोहत)—मगर मच्छकी आकृति (आकार) के कुण्डल, गोपाल श्रीकृष्णके कान में ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, (मनौ)—मानो (समर)—स्मर-काम देव महाराज, (हिय-घर धस्यौ)—हृदयरूप अपने गढ़में धसे हैं और (ड्योढी लसत निसान)— उनका निशान—झंडा क़िले के दरवाजेपर शोभा दे रहा है ।

जब राजा किलेके अन्दर होता है तो इस बातकी सूचना केलिये बाहर—(क़िलेके सदर दरवाजेपर) झडा लहराता रहता है और जब वह किलेसे बाहर होता है तो झडा झुका दिया जाता है ।

प्रत्येक राजाका अपना अपना पृथक् रूप रंगका 'शाही झंडा' होता है, जैसे आजकल अंगरेजोंके शाही झडेका नाम 'यूनियन जैक' है, जरमनीके झडेपर उकाब पक्षीका चित्र रहता है, टर्कीवालोंके झंडेपर अर्द्ध चन्द्रका (हिलाल-का) चिह्न है। ऐसे ही पहले भी प्रत्येक प्रसिद्ध वीर और राजाकी अपनी अपनी विशेष प्रकारकी ध्वजा होती थी, और वह (ध्वजाधारी)—व्यक्ति उस (ध्वजा)के नामसे भी पुकारे जाते थे। जैसे श्रीकृष्णजी

महाराजकी ध्वजा 'गरुड'के चिह्नकी थी, इसीलिये वह "गरुडध्वज' प्रसिद्ध हैं, अर्जुनका नाम "कपिध्वज" है, क्योंकि उनकी ध्वजापर कपि—हनूमान्‌जी—की मूर्ति अंकित थी। इसीप्रकार कामकी ध्वजा (निशान—झंडा) काव्योंमें 'मकर' (नक्र) के रूपकी वर्णित है, इसी सम्बन्धसे कामका नाम "मकरध्वज" भी है—(मकरध्वज आत्मभू)—और वह (काम)मनसे उत्पन्न होता है, इसकारण "मनसिज" या 'मनोज' कहाता है। "मन" ही उसका घर या गढ है।

श्रीकृष्णके कुण्डलोंकी मकराकृति और कामका "मकरध्वज" नाम, इस सादृश्य-सम्भावना-मूलक "उत्प्रेक्षा"का बीज है। इस (दोहे)में "उक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षालकार" है। जिस वस्तुमें किसी दूसरी वस्तुकी सम्भावना की जाय वह (सम्भावना का आस्पद—स्थल) जहा उक्त हो (कह दिया गया हो) वह 'उक्तास्पदा' है। जैसे यहाँ कुण्डलरूप वस्तुमें निशानरूप अन्य वस्तुकी सम्भावना की गयी है और वह उक्त भी है। उत्प्रेक्षावाचक "मनो" पदके योगसे "वाच्योत्प्रेक्षा है। तथा 'हिय घर'में रूपकालकार भी है। अत 'उत्प्रेक्षा' और 'रूपक'का 'संकर' है।

कानों और कुण्डलोंके परस्पर स्वरूपानुरूप सम्बन्धका वर्णन है। इसलिये 'समालंकार' भी है।

परकीया नायिकाकी उक्ति है तो पूर्वानुरागमें गुणकथनरूपा, कामदशा व्यङ्ग्य है। यदि नायकपक्षकी सखी नायिकाको नायककी अपूर्वशोभा सुनाकर (इस मिषसे) मिलाया चाहती है, तो "पर्यायोक्त" अलंकार भी है।

यदि नायक पक्षकी दूती या सखी नायकके पूर्वानुराग†का नायिकासे वर्णन करती है तो यह चमत्कृत अर्थ भी हो सकता है कि—

नायकने कानोंसे तेरे रूप गुणकी प्रशंसा सुनी है (अभी साक्षात् दर्शन नहीं हुआ) इसलिये कानोंको कुण्डलों से अलङ्कृत किया है॥ सुसमाचार (खुशखबरी) सुनानेके उपलक्ष्यमें, वे कुण्डलोंसे पुरस्कृत किये गये हैं, मानो कानोंको कुण्डलोंका इनाम मिला है। जब कोई सेवक बहादुरीका काम करता है, या कोई खुशखबरी सुनाता है तो उसे स्वामीकी सरकारसे प्रसन्नता-स्वरूप, कपडे या कुण्डल‡ आदि भूषण इनाम में मिला करते हैं। यह प्रसिद्ध है।

---

† पूर्वानुराग—एक दूसरेको साक्षात् देखनेसे और केवल कानोंसे प्रशंसादि सुननेसे भी हो जाता है। यथा —

"श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथःसरूढरागयो ।

दशाविशेषप्राप्तौ यः "पूर्वराग" स उच्यते ॥"

फारसीमें ('जामी' की जुलेखामें) भी एक पद्य इसी अभिप्रायका है—

"न तनहा इश्क अज दीदार खेजद्,

बसा-कीं दौलत अज गुफ्तार खेजद् ॥"

अर्थात्, इश्क (प्रेम) सिर्फ देखनेसे ही पैदा नहीं होता, बल्कि अक्सर कहने सुननेके असरसे भी यह पैदा हो जाता है।

‡ नोट—कानों को कुण्डलों का मैडल (तमगा) रतिसमर की विपरीत दशामें भी साथ देनेकी बहादुरीमें एक और कविने भी दिलवाया है। यथा

"शान्ते मन्मथ-सगरे रणभृता सत्कारमातन्वती,

वासो ऽदाज्जघनस्य पीनकुचयोर्हारं श्रुते कुण्डले ।

[इस नोटका शेष देखो पृ० २३ पर]

तथा जब किसी श्रीमान्‌के घर किसी प्रतिष्ठित पुरुष या सुहृज्जनके आनेकी खबर आती है या कोई विशेष हर्षका अवसर होता है तो पहलेसे मकान खूब सजाया जाता है, दरवाजोंपर वन्दनवार बाँधी जाती और रंग बिरंगी झंडियां खड़ी की जाती हैं। कभी कभी किसी असाधारण मान्य महोदयके पधारनेकी यादगारमें पीछे स्मृति चिह्न भी बनाये जाते हैं।

जिन कानोंके द्वारा ऐसी त्रिभुवन-सुन्दरी हृदय-मन्दिरके अन्दर पहुंची हो, उनपर स्वर्णकुण्डलके निशान लटकाना समुचित ही है। कान, हृदय मन्दिरकी ड्योढी है, ड्योढी और कानोंमें आकार-साम्य भी है—ड्योढी ड्योढ देकर बनायी जाती है इसीसे ड्योढी कहाती है, कानोंकी रचना भी कुछ इसी प्रकारकी टेढ़ी

[पृष्ठ २२ का शेष नोट]

बिम्बोष्ठस्य च वीटिका सुनयना पाण्यो रणत्कङ्कणे,
पश्चाल्लम्बिनि केशपाशनिचये युक्तो हि बन्ध कृत ॥"

× × ×

"रति-रन विषे जे रहे हैं पति-सनमुख,
तिन्है बकसीस बकसी है मैं बिहंसिकै।
काननको कुंडल [करन को कंकन] उरोजन को चन्द्रहार,
कटिको सुकिंकिनी रही है कटि लसिकै।
"कालिदास" आनन को आदरसों दीन्हों पान
नैनन को काजल रह्यौ है नैन बसिकै।
एरी बैरी [बौरी] बार ये रहे हैं पीठ पीछे यातें,
बार बार बांधती हौं बार बार कसिकै॥"

भेदी होती है,—इसपर प्रकाशित कुण्डलरूप झंडा, हृदयेश्वरीके अन्त:प्रवेशकी सूचना दे रहा है।

इस दोहेपर 'श्रीसुरतिमिश्र'ने कई विचित्र प्रश्नोत्तर दिये हैं। उनका भाव भी सुनिये —

प्र० १—इसदोहेसे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण जब 'मदनमोहन' बने—तरुण हुए—तब ही यह कुण्डल पहिने (जिनपर कामके निशानकी उत्प्रेक्षा की गयी है), कामका सञ्चार यौवनमें ही होता है। परन्तु यहा यह बात ठीक नहीं, क्योंकि कुण्डल तो बचपनसे ही उनके कानोंमें थे।

उत्तर— हा, यह ठीक है कि कुण्डल बचपनसे ही उनके कानोंमें थे। परन्तु भूषण युवावस्थामेंही सुन्दर प्रतीत होते है, इसीसे दोहेमें "लसत" पद दिया है, यह नहीं कहा कि 'अभी पहने है, किन्तु—अब शोभा दे रहे हैं—दिप रहे हैं।—यद्यपि राजद्वारपर झंडा सदा लगा रहता है,पर जब राजा किलेके अन्दर होता है तभी वह सुशोभित होता है—अच्छी तरह फहराता है, साधारण दशामें (जब राजा अनुपस्थित रहता है) झंडा झुका रहता है, ऐसे ही कुण्डल पहलेसे साधारणतया कानोंमें पड़े थे सही, पर वह सुशोभित—दर्शनीय और वर्णनीय—अभी हुए है।

२–रा, प्रश्न—"काम मनसे ही उपजता है, और वहीं रहता है, इसी कारण उसका नाम "मनोज" है, पर यहा उस का मन में 'प्रवेश' कहा गया है, वह अपने जन्मदाता(मन)और जन्मभूमि (हृदय मन्दिर) को छोड़कर कहा चला गया था? (दोहेमें प्रवेशका वर्णन तो है, पर 'यात्रा'का उल्लेख नहीं, सो क्यों?)

उत्तर—बेशक, 'मनोज' मनसे ही उपजता है पर विना 'आलम्बन'के† उत्पन्न नहीं होता। वह "आलम्बन" (नायिका) दूसरी जगह थी, उसीकी तलाशमें मन वहा गया, और उस के सङ्गसे 'सकाम' होकर लौटा।

† साहित्यकी परिभाषा में—"आलम्बन विभाव" वह कहाते हैं जिनके आश्रयसे रसकी स्थिति है, जैसे शृङ्गारके आलम्बन 'नायक' और 'नायिका' हैं।

' जैसे राजा कहींसे राज्य पाकर आता है और बड़े ठाठ बाटसे अपनी राजधानीमें प्रवेश करता है, उसी रीतिसे यहां (मन, मनोजका अभेद मानकर) कामका उसकी हृदयरूप राजधानीमें कविने प्रवेश करना वर्णन किया है ।

इस दोहेपर "रस-चन्द्रिका"में भी कुछ शङ्का समाधान हैं—उसका संक्षेप यह है —

इस दोहेका अर्थ बाल्यावस्थापरक भी होसकता है (अभिप्राय यह कि 'सुरतिमिश्र'ने जो प्रश्नोत्तर किये हैं, उनकी ऐसी आवश्यकता नहीं !) क्योंकि "ब्रह्मवैवर्त्त पुराण" और "गीतगोविन्द"में वर्णन है कि
"साढे तीन वर्ष की वय (आयु) में राधिकासे विहार कीना है ।।"

"मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-

र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे ! गृहं प्रापय ।

इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमम्,

राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ॥"

(जयदेव, गीतगोविन्द)

"काम," मनकी इच्छाविशेषका नाम है, वास्तवमें वह कोई पृथक् सत्ताधारी मूर्त पदार्थ नहीं, जिसका आना जाना बन सके। इसका समाधान "ईसवीजा" इस तरह करते हैं —

"काम एक भिन्न पदार्थ है, क्योंकि जब महादेवजीको दुःख देता था तब वह जला है, यदि वह पृथक् सत्ताधारी भिन्न पदार्थ न होता तो जलता कैसे ? पृथक शरीर-सत्ताधारी व्यक्ति हो तभी तो जलाना बन सकता है ।"

"काम को **मनोज** क्यों कहते हैं ? इसलिये कि जब उसे महादेवजीने जला दिया तब वह अङ्गहीन 'अनङ्ग' हो गया । और जब अङ्गहीन है तो उसमें पराक्रम कैसे रहे ? सो जब वह ('भूत'की तरह !) किसीके मनमें आता है, तब उसके अङ्गों द्वारा अपना पराक्रम प्रकट करता है "तौ मानो उसके मन तें उपजा" इस हेतु उसे **मनोज** कहते हैं, सो बिहारीने इस हेतु "धस्यौ" कहा।"

ईसवीखाँने इसमें "उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा" इस प्रकार सिद्ध की है —

"और वस्तुमें औरकी सम्भावना धर्म-सम्बन्ध सहित, सो यहां कुण्डल-वस्तुमें निशानकी सम्भावना करी और कुण्ड मकराकृत होते ही हैं तातें धर्म सम्बन्ध मिले है यातें उक्तविषया कहा—"



५

पीत-पट वर्णन

सोहत ओढे पीत पट श्याम सलौने गात।
मनो नीलमनि सैलपर आतप पर्‌यो प्रभात॥

अर्थ—(सलौने गात)—लावण्ययुक्त शरीरकी कान्ति-वाले श्याम—श्रीकृष्णजी, (पीत पट ओढे सोहत)—पीताम्बर ओढे ऐसे सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं, [मनौ]—मानो [नीलमणि सैलपर)—नीलमके पहाडपर, (प्रभात आतप परयो)—प्रात काल की धूप पड रही है। श्यामके सलौने गातपर ओढ़नेसे पीत पट ऐसा सुहावना लगता है। —श्याम सुन्दरका सलौना शरीर नीलमणिका पहाड है और उसपर ओढ़ा हुआ जो पीताम्बर है सो मानो प्रात कालकी धूप पड रही है! यहाँ उक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा-लंकार है। श्याम गात और पीत पट—उक्त वस्तु हैं। उनमें नीलमणि गिरि- और आतपकी "उत्प्रेक्षा" की गयी है। "मनौ" के सम्बन्धसे वाच्योत्प्रेक्षा है।

अतसी-पुष्प, नीलकमल, नीलमणि आदि समस्त सुन्दर श्याम पदार्थ, श्यामसुन्दरके उपमान हैं। श्रीकृष्णको अतसी-पुष्प और नीलमणिकी उपमा माघ कविने भी दी है—

"महामहानीलशिलाशिलारुच"। "तस्यातसीसूनसमानभास"

सखी नायिकाके सामने पीताम्बरधारी श्याम मुरारि-की अद्भुत शोभाका वर्णन करके उसे उनसे मिलाना चाहती है तो इस उत्तम उत्प्रेक्षामें एक और यह भाव भी गूढ है कि प्रभात सूर्य्यकी प्रभा यद्यपि अन्य पहाडोंपर भी पडती है पर जैसी शोभा वह नीलमणि पर्वतपर पडनेसे पाती है, वैसी अन्यत्र नहीं। पीताम्बर भी श्याम सलौने गातपर ही सजता है, सो स्वर्ण सुन्दरी तू भी श्यामके संयोगसे ही अपूर्व शोभा धारण करेगी। बिना नील मेघके बिजली, लाख चमका करे, पर वह बात कहा! केवल पीताम्बर, निरा आडम्बरहै, (पीला कपडा मात्रहै) वही श्रीकृष्णके नीलमणिकान्त कायपर लोकलोचनहारी कमनीय कान्तिको धारण करता है, और प्रातःकालीन सूर्य्य-प्रभाकी स्पृहणीय छवि पाता है। विश्वास न हो तो पीतपट-धारी श्याम सुन्दरकी मनोहर मूर्तिको स्वयं देखले।

यदि दूतीविवर्जिता नायिकाकी उक्ति अपनी सखीसे है तो उससे दूतत्व कराकर काम निकालना चाहती है।

इस दशामें "पर्यायोक्त" "और" "समालंकार" भी है।

यदि नायिका सखीसे पूछती है कि कृष्ण कौनसे हैं, और वह उनका हुलिया बताकर कहती है कि, वह हैं— जिनके श्याम शरीरपर पीताम्बर ऐसा सुन्दर लगता है मानो नीलमणिपर प्रातःकालके सूर्यकी धूप पड रही है, तो "परमानन्द कवि" के मतानुसार यहाँ "उत्तरालंकार" भी है। उत्तरालंकार-में—उत्तर वाक्यसे ही प्रश्नकी कल्पना करली जाती है— तथा उत्तरार्धमें "पकारकी" आवृत्ति से "वृत्त्यनुप्रास" भी है।



वासरी-वर्णन

६

अधर धरत हरिके परत ओठ-दीठि-पट जोति।
हरित बांसकी बांसुरी इन्द्रधनुष-रँग होति॥

अर्थ—(अधर धरत)—होँठपर रखनेसे, (हरिके)—श्रीकृष्णके, (ओठ दीठि, पट, जोति परत)—होँठ, नेत्र और वस्त्रकी ज्योति पडती है, जिससे—(हरित वासकी बासुरी)—हरे वासकी वासरी, [इन्द्रधनुष रँग होति]—इन्द्रधनुषके रंगकी हो जाती है।

इन्द्रधनुषमें प्रधानतया चार रंग दृष्टिगोचर होते हैं, हरा, पीला, लाल, और गुलाबी। सो जब वंसीधर मुरली बजाते हैं, तो वह इन्द्रधनुषके रंगकी हो जाती है, उसमें पीताम्बर आदिका प्रतिबिम्ब पडनेसे ये सब रंग आजाते हैं। पीला—पीताम्बरका, लाल—होठोंका, गुलाबी—आँखोंका, और हरा रंग वासरीका। 'वासरी'का 'हरे रंगको' विशेषण, उसकी प्रतिबिम्बग्राहकताको बोधन कराता है।

कोई कहते हैं कि दृष्टि और आँखमें भेद है। "दृष्टि"—दृक्शक्ति, और आँख—नेत्रगोलकको कहते हैं तथा नेत्रमें श्वेतता भी है, धनुषमें नहीं है। इसलिये वह यह क्लिष्ट-कल्पना करते हैं कि "वासरीपर होँठकी ज्योति और पटकी ज्योति पडती है, सो तू "दीठ" अर्थात् देख।" पर यह ठीक नहीं, कवियोंने आंखमें लाल छोड श्वेत, लाल और श्याम तीनों रंग वर्णन किये हैं, जैसे इस जगत्प्रसिद्ध अद्वितीय दोहेमें—

'अमी हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार।

जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार ॥''

तथा जब नेत्र किसीके रूपासवके नशेसे छके हों— मस्त हों या जगे हों— तो उनकी 'लाली' भी वर्णनीय है, इस विषयमें किसीका वचन है —

"कौन कवि ऐसो, छके नैननिके रूप भरे लाल-लाल कोयनिमें कैते घर खोये हैं"।

इस दोहेमें 'तद्गुण' अलङ्कार है। पट- होंठ आदिके गुण ग्रहण करके बासरी, इन्द्रधनुषके रूप रँगकी हो गयी। यह अमरचन्द्रिका, लालचन्द्रिका, रसचन्द्रिका, अनवरचन्द्रिका, प्रतापचन्द्रिका इन सबकी सम्मति है, और 'हरिप्रकाश'में भी "तद्गुण" लिखा है। पर फिर यह शङ्का करके कि—"जो कहिए औंर गुनि या में आए हरितगुनको त्याग नहीं भयो, तो उपमा भी है"—**लिखा है। अर्थात् तद्गुणालकार वहीं होता है जब कोई पदार्थ अपना गुण छोड़कर दूसरेका गुण ग्रहण कर ले, क्योंकि** "तद्गुन तजि गुन आपनो सगतिको गुन लेइ" **और यहाँ बासरीने औरोंके गुण तो ले लिये, पर अपना हरित रंग भी नहीं छोडा, इसलिये यहा 'तद्गुण'की संगति नहीं बैठती। सो हरिके मतमें 'उपमालंकार' है। यथा—**

"धनुष उपमान, बासुरी उपमेय, 'सी' वाचक, साधारण धर्मको लोप है।"

"इन्द्रधनुष रंग होति"—पाठमें 'वाचकलुप्तोपमा' है—['सी' आदि वाचक पद न होनेसे]— साधारण धर्म 'रंग' है। हरिप्रकाशमें "इन्द्रधनुषसी होति" पाठ है। इस दशामें धर्मलुप्तोपमा है।

प्रतापके मतमें—"यमक"—[बास बासके योगसे], "तुल्ययोगिता"—[ओंठ आदिकी ज्योति पड़ने रूप एक क्रिया-

से] "पर्याय"—(एक आधाररूप वासरीमें अनेकों रंगोंका आश्रय रहनेसे)। यह तीन अलंकार तद्गुणके अतिरिक्त और हैं।

नायिकाकी उक्ति, या सखीका कथन नायिकासे ॥



७

किती न गोकुल कुलवधू काहि न किहिं सिख दीन।
कौने तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥

अर्थ—मुरलीधर मुरली बजा रहे हैं, उसे सुनकर कोई नायिका उधर खिंची जा रही है। उसकी सखी समझाती है कि "देख, यह कुलवधूका धर्म्म नहीं है, उस ओर मत देख" इसपर प्रेमभरी नायिका कहती है — ❀

(किती न गोकुल कुलवधू)—गोकुलमें कितनी कुलवधू नहीं हैं, सब ही कुलवधू हैं, कुछ अकेली मैं ही कुलवधू नहीं हूँ, और (काहि न किहिं सिख दीन)—किसने किसे शिक्षा नहीं दी। अर्थात् सबने सबको समझाया, एक तूही नयी उपदेशिका नहीं आयी है जो समझाने चली है। पर (कौने तजी न कुल गली)—किसने अपना कुलमार्ग नहीं छोड़ा ? अर्थात् सब 'कुलगली'से निकलकर 'कुञ्जगली' में पहुच ही गयीं। फिर मैं क्यों न जाऊं। यह कुछ अपने वसकी बात नहीं है—[ह्वै मुरली-सुरलीन]—मुरलीके स्वरमें [लीन]—आसक्त होकर। कौन कुलीननारी है जो कुलगलीमें लीन— छिपी रह सके।

❀ यदि सखीकी उक्ति नायिकासे हो तो कृष्णमें रुचि उपजाना प्रयोजन है। यदि दूतीविवर्जिता नायिकाका कथन सखीके प्रति है तो उससे दूतत्व कराना प्रयोजन है। गुप्तकथनसे पूर्वानुराग व्यङ्ग्य है।

यहाँ 'उत्तरालंकार' है। जहाँ उत्तरवाक्यको सुनकर प्रश्न-वाक्यकी कल्पना करली जाय वह 'उत्तरालंकार' कहलाता है। जैसे यहा नायिकाकी उक्ति [उत्तर] से हो यह पता चलता है कि कि सखीने उसे समझाया है, जिसका वह यह उत्तर दे रही है। लक्षण —

"उत्तर देवेमें जहा प्रश्नो परत रखाय।
प्रश्नोत्तरका प्रथम यह भेद कह कविराय।"

काकूक्ति [काकु-वक्रोक्ति] से नायिकाकी उक्तिमें उसका अभिमत अर्थ निकलता है, इसलिये काकूक्ति भी है। इस प्रकार 'उत्तरालंकार' और 'काकुवक्रोक्ति' की 'संसृष्टि' [अलंकार] भी है।

तथा 'शिक्षा'रूप 'कारण'के होनेपर भी कुलगलीकी रक्षारूप—'कार्य्य' नहीं हुआ, (सखीकी शिक्षा निष्फल गयी) इसलिये 'विशेषोक्ति' अलंकार भी है।

"कार्य्याजनिर्विशेषोक्ति सति पुष्कलकारणे।"—
"विशेषोक्ति जो हेतु सों कारज उपजत नाहि।"

तथा 'तीसरी विभावना' अलंकार भी है क्योंकि बाधक (शिक्षा) के होते हुए भी—कार्य—कुलगली तजनारूप—हो गया। "विभावना तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके।" पूर्वार्धमें "कुल कुल" के कारण लाटानुप्रास, और उत्तरार्ध में 'वृत्त्यनुप्रास' है।

अथवा यह मुरली ही का मामला है। कोई (नायिका) उसीकी उन्मादकताका वर्णन कर रही है, कि हे मुरली! तूने किनने घरोंको नहीं घाला! तेरी मीठी तानने कितनो मृगनय-नियोंके कोमल हृदयोंको नहीं बींधा! वह कौन कुल-कामिनी है जो तेरे स्वरमें बहककर—मार्गभ्रष्ट हो—मुरलीवालेकी तलाशमें बन बन न भटकी हो। तेरे आलापके आगे किसीके पढ़ने सुनने

और समझाने बुझानेका असर नहीं होता, तू कानमें कुछ ऐसा मंत्र फूकती है कि सुननेवाला सबसे नाता तोड़कर तेरा ही हो रहता है, फिर उसे वसीके सिवाय न कुछ सुनायी देता है, न वसीवालेके अतिरिक्त कुछ और सूझता है! बस! —

"काननमें वसी वासुरीकी धुनि प्राननमें बसो वासुरी वारो"— जिस समय वसी तो सुनायी देती है पर वसीवाला दिखायी नहीं देता उस दशामें सुननेवालीपर जो बीतती है, उसका दिल ही जानता है, तब वह जलकर यही कहती है – "जरासे बासकी पोरी मेरे दिलको जलाती है, कटा डारो उसी बनको जहांसे बनके आती है"—क्योंकि "न रहे बास न बजे बासरी"—तूने जिसकी 'कुलगली' छुडायी, वह तेरे कुल (वन)को क्यों न कोसे! रसनिधिने भी बाँसुरीपर अच्छी तान उडाई है, क्या खूब कहा है

"मोहन बसुरी सौं कछू मेरी वस न बसाय।
सुर-रसरी सौं श्रवन-मृगु बाधि मनै लै जाय॥"

[रतन हजारा]

बसीकी तान सुनकर ग्वालबालाओंमें जो हड़बड़ी पड़ती थी और गाय बैलो तथा मृगोंतककी जो दशा हो जाती थी उसका वर्णन श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें बड़ा मनोहर है। यथा—

'शुश्रूषन्त्य पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्।
लिम्पन्त्य प्रमृजन्त्योऽन्या पाययन्त्य सुतान् पय॥"
"वृदशो व्रजवृषा मृगगावो वेणु-वाद्य-[illegible]

गुंजमाल – वर्णन

८

सखि ! सोहत गोपालके उर गुंजन की माल ।
बाहर लसत पिये मनौं दावानल की ज्वाल ॥

अर्थ — नायिका सखीसे कहती है कि—हे सखी ! (गोपाल के उर, गुंजन को माल, सोहत)—गोपाल की छाती 'वक्ष स्थल'-पर घुघचियोंकी माला सुशोभित है, (मनौ, पिये दावानल की ज्वाल बाहर लसत)— मानो पहले पिये हुए दावानल—दावाग्नि 'दौं' की लपट बाहर चमक रही है ।

एक बार वन में आग लगी थी, जिसे श्रीकृष्ण पीगये थे । (भागवतके दशम में यह कथा है) गुंजामालाको देखकर नायिका कहती है कि मानो ये उसी आगकी ज्वालाएँ बाहर निकल रही हैं । प्रिय जनके हृदयसे आगकी लपटें निकलती बतलाना, अमङ्गल है । इसके समाधानका प्रयत्न टीकाकारोंने इस प्रकार किया है —

"मानो गुंजामालाने दावानल पी है, उसीसे यह ऐसी चमक रही है"—

पर यह समाधान भी सन्तोषजनक नहीं हुआ, क्योंकि ऐसी कठोरमालाका (जो दावानल को पी गयी है !) प्रियके हृदयपर पड़े रहना भी प्रेमीसे कब सहन हो सकता है ! इसलिये यह अर्थान्तर करना चाहिये— कि गोपालके गलेकी माला सपत्नीके गलेमें पड़ी है उसे देखकर नायिका कहती है कि हे सखी ! गोपाल-के गलेकी गुंजामाला इसके (सपत्नीके) गलेमें ऐसी मालूम होती है । या सपत्नीके हाथकी गुथी गुंजामाल गोपालके गलेमें देखकर ईर्ष्यासे जलकर 'अन्यसंभोगदुःखिता' नायिका कहती है मानो मालने दावानल पी है, वही बाहर चमक रही है, इसे देखकर हमारी आँखें जलती हैं, यह भाव ।

यहा "उक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षालङ्कार" है, क्योंकि गुञ्जामाला-वस्तुमें ज्वाला-वस्तु की सम्भावना की गयी है। तथा 'सोहत' 'लसत'से 'अर्थावृत्ति—दीपकालङ्कार' भी है। जहाँ शब्दभेदसे वही अर्थ फिर कहा जाय, वहाँ "अर्थावृत्ति दीपक" होता है, जैसे यहाँ एक ही अर्थ— 'सुशोभित होना' 'सोहत' और 'लसत' दो शब्दों द्वारा कहा गया है। यथा,—

लक्षण—"पुनि है आवृत्ति अर्थ की दूजे कहिए ताहि।"
उदाहरण—"फूले वृक्ष कदम्बके विकसे केतक आहि॥"
(भाषाभूषण)

युगलमूर्त्ति-वर्णन

६

नित प्रति एकत ही रहत बैस बरन मन एक।
चहियत जुगलकिसोर लखि लोचन जुगल अनेक॥

अर्थ — श्रीराधाकृष्णकी युगल मूर्त्तिका अथवा श्रीकृष्ण बलदेवजीकी जुगल जोड़ीका वर्णन। सखीकी उक्ति सखीसे या भक्तका वचन भक्तसे। [नित प्रति एकत ही रहत]—नित्य प्रति, सदा, एकत्र-इकट्ठे ही रहते हैं, [बैस बरन मन एक]-वयस् आयु, वर्ण—जाति, और मन दोनों के एक हैं, अभिन्न हृदय हैं।

अथवा—"दोनों वयस वरन"—आयुके अक्षरोंसे, एक हैं, अभिप्राय यह कि राधाजी "श्यामा" हैं [श्यामा षोडशवार्षिकी] सोलह वर्षकी स्त्रीकी श्यामा संज्ञा है, और श्रीकृष्णजी 'श्याम' हैं, श्यामामें 'आकार' और श्याममें 'अकार' [अन्त्याक्षर] है, अकार आकार व्याकरणके मतसे दोनों समान हैं, अर्थात्

प्रान प्रयत्नादि एक होनेसे दोनों– अकार आकार– सवर्ण-
क्षक हैं।" [हरिप्रकाशसम्मतोर्थ]

[जुगल किशोर लखि]— किशोरी राधा—किशोर
कृष्णकी युगलमूर्त्तिको देखकर, [अनेक लोचन जुगल
चहियत]— नेत्रोंके अनेक जोडे चाहियें। इन दो आखोंसे
स अद्भुत शोभा-सम्पन्न जुगल जोडीकी छवि अच्छी तरह नहीं
खी जा सकती, बहुतसे नेत्र हों तब ठीक देखी जा सके।
अनेक नेत्र चाहियें-इस कथनसे शोभाका आधिक्य व्यङ्ग्य है।
श्रीकृष्ण बलभद्रके वर्णनमें भी यही अर्थ संघटित है।

"बेस बरन"की व्याख्यामें प्राय टीकाकारोंने बहुत
घुमा फिराकर नाक पकडी है। यह कदाचित् इसलिये कि
श्रीकृष्णजीके पिता वसुदेवजी और नन्दगोप, तथा वृषभानु
(श्रीराधिकाके पिता) की जातिमें कुछ अवान्तर भेद था। यद्यपि
श्रीकृष्ण जिस दशामें नन्दजीके यहा थे, उन्हें सब नन्दजीका
ही पुत्र समझते थे, और राधाजीके पिता तथा नन्दजी दोनों
एक ही जाति बिरादरीके थे। फिर इतनीसी बातके लिये
'वर्ण'की ऐसी विचित्र व्याख्या करनेकी कुछ ऐसी आवश्यकता
नहीं प्रतीत होती। क्योंकि अवान्तर भेद, एकजातित्व या
सवर्णताका बाधक नहीं है, 'ब्राह्मणजाति' कहनेसे उसके सब
कलित और अवान्तर भेद आ जाते हैं, गौड और कान्यकुब्ज
दोनोंको 'सवर्ण' कह सकते हैं। अस्तु।

"बेसबरन"पर टीकाकारोंकी कल्पनाएँ सुनिये——

"बेस बरन"—[बेस]—वय अव, ताको तूं [बरन]—(वर्णय।)
वर्णन कर, इनकी अच्छी उमरि है।" अथवा, "वर्णनीय"—वर्णन करिबे लायक,
वयस– अवस्था, सो जिन्हें है।" अथवा, "इनके वर्ण—अक्षर एक हैं, यह भी
किशोर है यह भी किशोर है। (हरि प्र)"

हरि कवि और लल्लूलालजीने 'वरन' का अर्थ 'रंग' किया, क्योंकि दोनोंके रंगमें भेद था, राधाजी गोरी और काले और बलदेवजी भी शेषके अवतार सुफ़ेद चिट्टे, उनका 'रंग' कृष्णजीसे मेल नहीं खाता। परन्तु 'रसचन्द्रिका'में 'वरन'का अर्थ 'रंग' भी किया है और उसपर यह प्रश्नोत्तर दिया है—

"और 'वरन' पर प्रश्न करे—के [कि] वे [राधा] गोरी, वे स्याम, 'वर्ण' एक कैसे ह्वै सके ? ता को [या को] उत्तर यह है कि दोनोंके रंगकी जोत मिलेसे दोनोंका रंग हरित हो गयो"। और यह भी उत्तर हो सके है, [अर्थान्तरम] कि दोऊ वे [दोनों] 'सवर्ण' हैं, वे गाय वे गोपिन"—

यहा समालंकार है। दोनोंके वयस वर्ण आदि एकसे मिल गये। (और वे आपसमें मिल गये।) "सम"का लक्षण—

"यथायोग्यको संग जहँ मिले सु "सम" निरधार।"

"विशेषोक्ति" अलंकार भी है, नेत्रयुगलरूप कारणसे युगलमूर्त्ति-दर्शनरूप कार्य नहीं हो सकता, इसलिये।

अनवरचन्द्रिका और प्रतापचन्द्रिकामें, इस दोहेको केवल श्रीकृष्ण और बलभद्रजीके ही वर्णनपक्षमें लगाया है, क्योंकि उनके मतानुसार —"जो नायिकाकी उक्ति होय तो 'रसाभास' * होत है और † 'किसोर'पद 'अनुचित' है। जो किसी भक्तकी उक्ति होय तो ब्यङ्ग रामकृष्ण बोद्धव्य हैं। ग्रथकर्त्ता [विहारी] इस मङ्गलाचरणसे कृष्णोपासक प्रतीत होते हैं, अत इसमें शान्त रस ‡ है।"

---

* प्रतिनायिकागत रसवर्णनके कारण।

† 'किशोर' पद तरुणावस्थाका बाधक न होनेसे, रसपोषक नहीं।

‡ यहा देवविषयक-रतिभाव कहना उचित है।

परन्तु हरि कविने इसे खण्डितानायिकाकी उक्तिमें भी लगा दिया है।

यथा— "अन्यत्र विहार करके प्रातःकाल नायक आया है, इससे नायिकाको क्रुद्ध देखकर नायकके पक्षको सखी कहती है कि यह तो और किसी नायिकाके पास जाते नहीं, तू क्यों पीठ फेरे रूठी बैठी है, इनकी ओर देख तो सही। इसपर खण्डिता कहती है कि "हाँ यह और कहीं नहीं जाते" "नित प्रति एकत ही रहत"—केवल एक उसी [कलमुंही !]के पास सदा रहते हैं ! क्योंकि—इनका उसका वयस [आयु] और वर्ण –रंग एक है, जैसे यह काले, वैसी वह काली, यही नहीं दोनोंका मन भी एक है। जैसा कुटिल मन इनका है वैसा ही उसका मन कुटिल है। और यह "जुगलकिसोर" हैं, एक नहीं दो हैं, किशोरी किशोरकी जोडी है। इनके कुटिल हृदयमें वही कुटिला छिपी बैठी है ! फिर ऐसी हालतमें, इस अद्भुत 'युगलमूर्ति' के देखनेको आँखोंके अनेक जोडे चाहियें, इन बेचारी नींदकी मारी दो आँखोंसे क्या देखूँ ! किसी खण्डिताकी उक्ति है—

" देखन न देहौं इन्हें यों ही तरसे हौं अब,
हियहि की आखनि दिखैहों रूप रावरो ॥"

यहां कवि परमानन्दजीने 'सम्भावनालंकार' भी माना है, यथा—

" यदा अनेकदृग्युगानि भवेयुस्तदैवेद युग्म दृश्य भवेदिति युग्मदर्शन सिद्धये अनेकदृग्युगलसम्भावनमिति सम्भावनालङ्कार । "सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये" इति लक्षणात् ।"

अर्थात्—यदि आखोंके अनेक जोडे हों तबही यह जोडी देखी जा सके' इस प्रकार जोडीके देख सकनेके लिये आखोंकी अनेक जोडियोंकी सम्भावना की गयी— सो 'सम्भावनालंकार' है।

कुवलयानन्दमें इसका यह लक्षण है कि—"यदि ऐसा हो तो ऐसा हो"—इस प्रकार किसी कार्यकी सिद्धिके लिये ... करना सम्भावनालंकार है"।

'काव्यप्रकाशकार'ने इसे (सम्भावनाको) "अतिशयोक्ति" एक भेद माना है। यथा——

"यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्" यद्यर्थस्य—यदिशब्देन चेच्छब्देन उक्तौ यत् कल्पन (अर्थात् असम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया [यद्यर्थातिशयोक्तिरित्यर्थः]

(काव्यप्रकाश, दशम उल्लास)

अर्थात् जहां 'यदि' या 'चेत्' शब्दके प्रयोगपूर्वक कल्पना की जाय, वहीं 'यद्यर्थातिशयोक्ति'—कुवलयानन्दमें 'सम्भावना'— होती है। यदि इन दोनो शब्दोंमेंसे किसी एकका प्रयोग न हो तो यह अलंकार नही होता। काव्यप्रकाशकार और उसके टीकाकारोंका यही मत है। साहित्यदर्पणके टीकाकारने भी इसपर स्पष्ट लिखा है कि—"यद्यर्थप्रयोग एवाय प्रकार सम्भवति।" और कुवलयानन्द, काव्यप्रकाश, तथा साहित्यदर्पण—इन तीनों ग्रन्थोंमें जितने उदाहरण इसके (सम्भावनालंकारके) हैं सबमें 'यदि' या 'चेत्' है। 'यदि' 'चेत्'—रहित कोई उदाहरण नहीं। इससे स्पष्ट है कि विना इनके —यदि, चेत्, के साक्षात् प्रयोगके—'सम्भावना' या 'यद्यर्थातिशयोक्ति' नहीं होती। इसलिये कवि परमानन्दजीका यह मत आनन्ददायक प्रतीत नहीं होता। इस दोहेमें 'सम्भावनालंकार' की सम्भावना नहीं है। परमानन्दजीने जो इस दोहेका संस्कृतानुवाद किया है वह यह है—

"विलसति युग्मयोरन्यतः वर्णवयोहृदयेन।
भवेदिद युगल कथ दृश्यं नयन-युगेन ॥"

(शृङ्गारसप्तशती)

दक्षिण नायक वर्णन

१०

गोपिन संग निसि सरदकी रमत रसिक रस रास ।
लहाछेह अति गतिन की सबन लखे सब पास ॥

अर्थ—सखीका वचन सखीसे । रासलीलाका वर्णन । [सरदकी निसि, गोपिन संग, रसिक रस, रमत]—शरद् ऋतु [क्वार कार्त्तिक] की रातमें, गोपियोंके साथ रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्ण, रससे—अनुरागसे [ऊपरी मनसे नहीं !] क्रीडा कर रहे हैं, [रास] —रासमें [गतिनकी अतिलहाछेह, सबन, सब पास, लखे]—गतियों [नाचनेकी गति विशेषों] की अतिलहाछेह —अत्यन्त शीघ्रतासे, [सबन सब पास लखे] सबने सबके पास [वह] देखे ।

अभिप्राय यह है कि रासमें नटनागर श्रीकृष्णने नृत्यकलाके ऐसे अद्भुत कौतुक दिखलाये, नाचनेमें इस फुरती और सफाईकी चाल चली, कि सबने उन्हें सबके पास देखा, वह एक और गोपिया हजारों, पर "जहा देखों वहीं मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है।"

अलंकार—'विशेषालंकार' का भेद है । 'रेफ' बाहुल्यसे वृत्त्यनुप्रास भी है ।

लहाछेह—"चञ्चलगति" (हरि कवि) । "लघुद्रुतगति" (व्यासजी) ।

"रासके रसिकने" येती (इतनी) जल्दी कीनी कि सबने अपने अपने पास लखे जितनी गोपी हती (थीं) तितने रूप श्रीकृष्णने धरे, सबका मान रखा और 'लहाछेह" को अर्थ जल्दी को है "— रसचन्द्रिका)—"चालाकी"—(अनवरचन्द्रिका । प्रतापचन्द्रिका) ।

" " "शीघ्रता"—लहाछेहको सङ्गीतमें 'उरप तुरप' कहते हैं । नाचनेके प्रकरणमें " (लालचन्द्रिका)

१—"विशेष सोऽपि यद्येक वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते।"
उदा०—"अन्तर्वहि पुर पश्चात् सर्वदिक्ष्वपि सैव मे ॥" (कुवलयानन्द)
२— "वस्तु एक को कीजिए वर्नन ठौर अनेक।"
उदा०—"अन्तर बाहिर दिश विदिश वही तीय सुख दैन।" (भाषाभूषण)

अर्थात् जहा एकही वस्तुकी स्थिति एकही समय कई जगह कही जाय, वह "विशेषालङ्कार"का एक भेद है। जैसे यहाँ इस वर्णनमें कि श्रीकृष्ण एक ही समय सब गोपियोंको एक-साथ सबके पास दीखते थे।

कोई कोई 'भक्तजन' टीकाकार, एक ही समय श्रीकृष्णजीके सबको सबके पास दिखायी देनेका कारण "ईश्वर-विभूति" बतलाते हैं। पर यह पक्ष रसपोषक नहीं। ईश्वरताको छिपाकर—उसकी चर्चा न चलाकर—नटवरकी नृत्यनिपुणतासे ही ऐसा कर दिखानेमें मजा है— रसपुष्टि है–। ईश्वरलीला प्रकट करनेकेलिये 'रासलीला'की कुछ ऐसी आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त 'विहारीलालजी'को यदि विभूति द्वारा ही अनेक रूप धारण करनेका वर्णन अभीष्ट होता तो "लहाछेह"से अनेक रूपोंकी प्रतीति बतलानेकी क्या आवश्यकता थी!

इस दोहेपर कृष्णकविके कवित्तका उत्तरार्ध यह है —

"अनला अनेकमें कीन्हीं नन्दलाल कछू,
अद्भुत चातुरी की कला यों प्रकास है।
"सबही की चाह गही सबही के सग नाच्यो,
सबनु विलोक्यो कान्ह सब ही के पास है॥"

'अभिमन्यु' कविका यह कवित्त भी इसी दोहेका अनुवा- प्रतीत होता है —

"जमना के पुलिन उजेरी निसि सरद की
राकाको छपाकर किरण नभ चाल की,

नन्द को लड़ैतो तहा गोपिकासमूह लै के
रची, रास क्रीड़ा बजे बीना डफ ताल की।
लहाछेह गतिनसौं कही न परत मो पै,
द्वै.द्वै गोपिकाके मध्य छवि नन्दलाल की।
सोभा अलौकि 'अभिमन्यु' कवि बोलि उठ्यो,
एक बार बोलो साधो! जै गोपाललाल की ॥"

'रासलीला'का विचित्र वर्णन भागवतके दशम स्कन्धमें है। यथा—

''रासोत्सव सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डल-मण्डित ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासा मध्ये द्वयोर्द्वयो ॥'' इत्यादि ।

शठ नायक-वर्णन

११

मोहि करत कत बावरी किये दुराव दुरै न।
कहे देत रँग रातके रँग निचुरत से नैन ॥

अर्थ— खण्डिता, लक्षिता और अन्यसम्भोगदु खिता, तीनोंके पक्षमें संघटित है। नायकसे नायिकाकी उक्ति हो तो खण्डिता। नायिकासे सखीका वचन हो तो लक्षिता, और नायिकाका कथन सखीके प्रति समझें तो अन्यसम्भोगदु खिता।

कहीं अन्यत्र रात बिताकर प्रात काल नायक'महात्मा' पधारे हैं। नायिका पूछती है कि कहो रात कहाँ रमे? यह असल बात छिपाकर कुछ उटपटाग उत्तर दे, पीछा छुड़ाना चाहते हैं, तब नायिका कहती है—

(मोहि कत बावरी करत)— भला ये बातें बनाकर, मुझे क्यों बावली बनाते हो! (दुराव किये दुरै न)— छिपानेसे असल हाल छिपता नहीं! (रगनिचुरत से नैन)—रतजगा करने से, जिनसे रंग निचुड़ रहा है—आँखें ऐसी लाल सुर्ख हो रही हैं मानो उनसे रंग टपक रहा है—ऐसी तुम्हारी आँखें (रातके रंग, कहे देत)— रातके रंगको (रतिविलासको) कहे देती हैं!

तुम लाख बातें बनाओ और असलियत को छिपाओ, तुम्हारी इन आँखोंसे टपकता हुआ रंग, रातकी रंगरलियोंका पूरा पता दे रहा है!

'रंग' का अर्थ यहाँ 'लक्षणलक्षणा' करके "रतिविलास" समझना चाहिये। जहाँ शब्द अपने अर्थको बिलकुल छोडकर किसी दूसरे अर्थका बोध करावे, वहाँ 'लक्षणलक्षणा' होती है। जैसे यहाँ रंग शब्द अपने रक्तवर्ण विशिष्ट द्रव पदार्थरूप-शब्दार्थको सर्वथा छोडकर 'रतिविलास'को लक्षित करता है।

अमरचन्द्रिका और लालचन्द्रिकाके मतमें यहाँ "काव्यलिङ्ग"अलङ्कार है।

(रंग निचुड़तेहुए नेत्रोंने रातके रंग को दृढ़ किया"—)

हरि कविके मतमें 'अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" है—

"नेत्र रातको जागनेस अति लाल हुए है, मानो उनसे रंग चू रहा है। यहां—'रंग चू रहा है' इस पद म 'मानो' (उत्प्रेक्षाव्यञ्जक शब्द)का अर्थ निकलता है, और उसका अन्वय 'कहे देत है'— इस क्रियाके आगे है। अर्थात्, नेत्रोंसे रंग चू रहा है, सो मानो रातके रंग को कहे-देता है"—

(-हरिप्रकाश)

"वर्षतीवाञ्जनं नभः"- मानो आकाश 'अञ्जन'की वर्षा कर है। यहाँ अविद्यमान अञ्जन (जिसकी सम्भावना की गयी है) विद्यमान-'तम' (जिसमें सम्भावना की गयी है) दोनों कहने

चाहिये थे, पर केवल 'अञ्जन'ही कहा, सम्भावना का आस्पद-'तम' नहीं कहा, इस कारण "वर्षतीवाञ्जनं नभः"में 'अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा' है। ऐसे ही प्रकृतमें, 'रंग'-रूप जिस अविद्यमान-वस्तुकी कल्पना 'आँखोंकी सुर्खीमें की गयी है"— वही है। 'आखोंकी सुर्खी'— यह आस्पद, अनुक्त है, इसलिये "अनुक्तास्पदा है"†। इसे ही "आखे ऐसी सुर्ख हैं मानो इनसे रंग चू रहा है"— ऐसा कहदें तो "उक्तास्पदा" हो जाय।

'प्रतापचन्द्रिका'के मतमें यहां "उपमानलुप्तोपमालङ्कार" है। रंग निचुड़ता हुआ, 'वस्त्रादि' उपमान नहीं कहा—यहाँ वह लुप्त है—और लक्षणासे लक्षित होता है।



१२

बाल ! कहा लाली भई लोयन कोयन मांह।
लाल ! तिहारे दृगनकी परी दृगनमें छांह॥

अर्थ—नायक नायिकाका प्रश्नोत्तर। नायिका धीरा खण्डिता। नायक शठ।

रातको किसी और जगह झख मारकर नायक आया है, नायिका बेचारी उसकी इन्तजारीमें रातभर जगी है, कुछ इससे और कुछ उन्हें इस दशामें देखकर क्रोधसे उसकी —नायिकाकी— आँखें लाल हो रही हैं। सो आतेही आप पूछते हैं—

प्रश्न—(बाल ! लोयन कोयन माह कहा लाली भई ?)— हे बाले ! तेरे नेत्रोंके कोयोंमें लाली क्यों है ?

† हरि कविने यत्र तत्र 'अनुक्तास्पदा'का यही साधारण लक्षण किया है कि—जहां क्रियाके आगे उत्प्रेक्षावाचक 'मनु' आदिका अन्वय हो वह 'अनुक्तास्पदा' है।

उत्तर— (लाल तिहारे द्रगनकी परी द्रगनमें छाँह)— हे लाल! तुम्हारे नेत्रोंकी परछाईं (प्रतिबिम्ब) मेरी आँखोंमें पड़ रही है। इसीसे लाल हैं।

बड़ा ही विचित्र उत्तर है। यह जवाब सचमुच लाजवाब है। तुम्हारी आखोंका अक्स मेरी आखोंमें पड रहा है! इसीलिये वे लाल मालूम हो रही हैं। कैसे भोले लाल हैं! मानो कुछ जानते ही नहीं, अपनी आखोंको देखो, वे क्यों लाल हैं! फिर मेरी आंखोंके लाल होनेका कारण स्वयं विदित हो जायगा। तुम यह ऐसी आखें लाल किए इस वक्त कहा-से आरहे हो। मैं तुम्हारी इस धजको एक टक आखें फाडे बडे आश्चर्यसे देख रही हू। सो तुम्हारी ये लाल आंखें ही मेरी आखोंमें पडी झलक रही हैं।

कविने इस दोहेमें कमाल किया है, फडका देनेवाले अतिचमत्कृत अर्थके साथ शब्दरचना और वाक्यविन्यास भी बडा ही सुन्दर है। केवल 'बाल' और 'लाल' दोनों संबोधन पद ही लालोंकी जोडीसे कम कीमतके नहीं हैं! शठ-शिरोमणि नायक, नायिकाको भोली भाली मुग्धस्वभावा और अपनी करतूतोंसे बेखबर नातजुर्बेकार जानकर, उसे छलना, अपने अपराधको छिपाना सुगम समझ, "बाल" सम्बोधनसे पुकारता है। नायकको "लाल" शब्दसे सम्बोधन करनेमें भी बडा व्यङ्ग्य है। मानो तुम ऐसे ही भोले लाला हो। कुछ जानते ही नहीं! जान बूझकर क्यों छलते हो! इसके अतिरिक्त लाल आखोंवालेको —जिसकी आखोंकी लाली को भी आखोंको लाल करदे—'लाल' कहना उचित। फिर इस निराले ढंगसे अपना क्रोध छिपाकर शठ कायल करना धीरा—पण्डिता—के स्वरूपानुरूप ही

है। आखें क्यों लाल हैं ? इसका यह उत्तर कि उनमें तुम्हारी आखोंका अक्स पड रहा है, बडा गूढाभिप्रायगर्भित है। यहा इस उत्तरालङ्कारसे यह ध्वनि निकलती है कि तुम्हारी आखें रात्रिजागरणसे इतनी अधिक लाल हो रही हैं कि उसका छिपा रहसकना तो दूर रहा (तुम छिपाना चाहो तो भी नहीं छिपा सकते) उस लालीके प्रतिबिम्बने मेरी आखोंको भी लाल कर दिया। गहरे रँगकी चमकीली चीजका प्रतिबिम्ब सामनेकी साफ़ चीजको भी अपने रँगका बना देता है।

अभिप्राय यह है कि तुम्हारे प्रकट और असह्य अपराधसे उत्पन्न क्रोधसे मेरी आखें लाल हैं।

किसी विशेष भाव या व्यङ्ग्यको लिये हुए, जहा किसी प्रश्नका उत्तर दिया जाय, वह 'उत्तरालङ्कार' है। (उत्तरालङ्कारका लक्षण, उदाहरण ७ वें दोहेकी टीकामें आ चुका है)।

'लोयन कोयन' से छेकानुप्रास, और 'लोयन दृग' से अर्थावृत्ति दीपक है।

यहाँ और ७ वें दोहेमें भी हरिकविने "चित्रालङ्कार" माना है। पर यह युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जहा वही प्रश्न और काकु आदिके हेर फेरसे वही उसका उत्तर हो, या कई प्रश्नोंका एक ही उत्तर हो, वहीं 'चित्रालङ्कार' होता है। यथा—

"प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते।"

"के दारपोषणरता', के खेदा, किं चल, वय॥" (कुवलयानन्द)

जैसे, यहा "के दारपोषणरता" ("स्त्रीके पालन पोषणमें कौन लगे हुए हैं?) इस प्रश्नका यही वाक्य उत्तर है कि ""केदारपोषणरता" 'जो खेतके काममें लगे हुए हैं'। अर्थात् वही लोग कुटुम्ब-पालनमें समर्थ हैं जो खेती बाडीके काममें लगे हैं।

"क खेटा ? कि चल ? वय" आकाशमें विचरनेवाले कौन हैं ? और चलायमान क्या है ? इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर "वय" है, अर्थात् पक्षी, और आयु । (वय शब्दका अर्थ पक्षी और आयु दोनों हैं)

भाषाभूषणमें चित्रालङ्कारका लक्ष्य, लक्षण यह है.——

"चित्र, प्रश्न उत्तर दुहू एक वचन में सोय ।"
"मुग्धा तिय को केलिरुचि भौन कौनमे होय ॥"

परन्तु बिहारीके इन दोनों दोहोंमें (७वे और १२वें में) एक जगह उत्तरसे प्रश्न उन्नेय है, और दूसरी जगह प्रश्नोत्तर पृथक् पृथक् हैं। हरि कवि "उत्तरालङ्कार" और 'चित्रालङ्कार'को एक ही समझते हैं। "सनिकज्जल०" ३२८ दोहेकी टीकामें हरि कविने लिखा है "उत्तरालकार भी जानिये, या कौं "चित्रालंकार" कहत हैं"—। परन्तु 'उत्तरालकार' "और चित्रालंकार" एक नहीं, पृथक् पृथक् हैं ।

इस दोहेके भावसे बिलकुल मिलती जुलती एक प्राचीन प्राकृत 'गाथा' काव्यप्रकाशके ध्वनिप्रकरणमें उदाहृत है—

"ओल्लोल्लकरअरअणव्वणेहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णम् ।
रत्तंसुअ पसाओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥"

(आर्द्रार्द-करजरदनक्षतैस्त्व लोचनयोर्मम दत्तम् ।
रक्तांशुक प्रसाद कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ॥)

प्रतिनायिका कृत ताजे नख-दन्तक्षत रूप सम्भोगचिह्नोंको वैसे ही चमकाता हुआ शठ नायक, नायिकाके सामने चला आया। यह रंग देखकर नायिकाकी आँखें क्रोधसे लाल हो आयीं, इसपर नायक उससे पूछता है कि तुम्हारी आखें क्रोधसे लाल क्यों हो गयीं ? नायिका कहती है कि —

तुम्हारे शरीरपर झलकते हुए इन आर्द्रार्द्र—तुरतके ताजे (खून झलकते लाल लाल) दन्त-नखक्षतों (जख्मों) ने मेरी आखोंको "रक्तांशुक" (रक्तकिरणरूप) लाल कपडा 'प्रसाद' दिया है, (उसीकी लाली है) क्रोधसे ये लाल नहीं हैं !

जब कोई पुरुष किसी तीर्थस्थानकी यात्रासे लौटकर आता है तो जो वस्तु वहाँकी प्रसिद्ध होती है उसे 'प्रसाद'के रूपमें अपने मिलनेवालोंको भी लाकर देता है, जिसे वे सादर ग्रहण करते हैं—प्रसाद बहुत ही अद्भुत या पवित्र हो तो उसे सिरपर रखते हैं और आखोंसे लगाते हैं।

यहा गाथामें 'उत्तरालंकार,' 'आर्द्रार्द्र' तथा 'प्रसाद' पदोंसे विशेष ध्वनि निकलती है। 'आर्द्रार्द्र'—से यह कि रति चिह्न ऐसे प्रकट और स्पष्ट हैं जिन्हें तुम छिपा नहीं सकते, क्योंकि यह बिलकुल ताजे हैं, इसीलिये लाल हैं (और जो स्वयं लाल हैं वे औरोंको भी "रक्तांशुक"= लाल किरणोंका कपडा प्रसादमें दे सकते हैं) और फिर तुम उन्हें छिपाना चाहोगे भी क्यों ! वह तो तुम्हारी तीर्थभूता प्रेयसीके प्रसाद-सूचक चिह्न हैं। तीर्थकी निशानी 'प्रसाद'में दी ही जाती है, सो मुझे भी तुमने उनका प्रसादपात्र बना दिया, ऐसे प्रसादको आखोंमें धारण करनेसे वे लाल हो गयी हैं। भाव यह कि इन लाल लाल रतिचिह्नोंको प्रत्यक्ष देखकर भी आखें लाल न हों तो क्या हो ! यह कोई पुराना अपराध तो नहीं है जो भुलाया जा सके, यह तो अभी को ताजी करतूत है !

बहुत सम्भव है बिहारीका यह दोहा, इसी 'प्राकृतगीति'की छाया हो, परन्तु दोहेकी प्रभाके आगे गीति, विच्छाय बन गयी है।

पहले प्रतिनायिकाकृत नखक्षतों और दन्तव्रणोंसे नायकके शरीरका लाल होना, फिर उनका नायिकाके नेत्रोंको 'रक्ता-

"क खेटा ? कि चल ? वय" आकाशमें विचरनेवाले कौन हैं ? और चलायमान क्या है ? इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर "वयः" है, अर्थात् पक्षी, और आयु । (वय शब्दका अर्थ पक्षी और आयु दोनों हैं)

भाषाभूषणमें चित्रालङ्कारका लक्ष्य, लक्षण यह है—

"चित्र, प्रश्न उत्तर दुहू एक वचन में सोय ।"
"मुग्धा तिय को केलिरुचि भौन कौनमें होय ॥"

परन्तु विहारीके इन दोनों दोहोंमें (७वे और १२वें में) एक जगह उत्तरसे प्रश्न उन्नेय है, और दूसरी जगह प्रश्नोत्तर पृथक् पृथक् हैं । हरि कवि "उत्तरालङ्कार" और 'चित्रालङ्कार'को एक ही समझते हैं । "सनिकज्जल०" ३२८ दोहेकी टीकामें हरि कविने लिखा है "उत्तरालकार भी जानिये, या कौं "चित्रालंकार" कहत हैं"– । परन्तु 'उत्तरालकार' "और चित्रालंकार" एक नहीं, पृथक् पृथक् हैं ।

इस दोहेके भावसे बिलकुल मिलती जुलती एक प्राचीन प्राकृत 'गोनि' काव्यप्रकाशके ध्वनिप्रकरणमें उदाहृत है—

"ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहि तुह लोअणेसु मह दिण्णम् ।
रत्तंसुअ पसाओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥"

(आर्द्रार्द्र-रजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम् ।
रक्तांशुक प्रसाद कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ॥)

प्रतिनायिका कृत ताजे नख-दन्तक्षत रूप सम्भोगचिह्नोंको वैसे ही चमकाता हुआ शठ नायक, नायिकाके सामने चला आया । यह रंग देखकर नायिकाकी आँखें क्रोधसे लाल हो आयीं, इसपर नायक उससे पूछता है कि तुम्हारी आंखें क्रोधसे लाल क्यों हो गयीं ? नायिका कहती है कि —

धृष्ट नायक-वर्णन

१३

दुरै न निघर घटौ दियें ए रावरी कुचाल।
विषसी लागति है बुरी हँसी खिसी की लाल॥

अर्थ — 'धृष्ट' नायक ढिठाईसे अपनी पोलपर खोल चढ़ाकर सुर्खरू बनना चाहता है, नायिका जो उसपर कुचाल चलनेका इलजाम लगा रही है, उसे योंही हँसीमें उड़ाकर— मानो नायिका जो कुछ कह रही है, वह सब उसका भ्रममात्र है, वह इस योग्य नहीं है कि उसपर कुछ भी ध्यान दिया जाय, वह सिर्फ सुनकर हँसदेने लायक बात है, बस—अपनी सच्चरित्रता सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। इसपर अधीर होकर (अधीरा) नायिका कहती है —

हे लाल! (रावरी यह कुचाल)—तुम्हारी यह कुचाल—बदचलनीकी करतूत-अपराध, — (निघर‡घटौ दियें, दुरै न,–दुलखने–ढिठाईसे मुकर जानेसे—छिपती नहीं।

(खिसी*की हँसी, विषसी बुरी लागती है)—और तुम्हारी यह, खिसियानी हँसी विषकी तरह बुरी लगती है।

‡ निघरघट— "दुलखिवो" पूरब में 'घचौट'कहै हैं, तुम यह काम किए हौ? हम क्या ऐसो काम करेंगे! या तरह (मुकरना)। —(हरिप्रकाश)
"ढिठाई"— प्रतापचन्द्रिका। लालचन्द्रिका)

* "खिसी"—खिसियाना होना—कुछ शरम कुछ गुस्से की हालत। जब आदमी किसी बातमें हार जाता या निरुत्तर हो जाता है, तब वह हँसकर अपनी हार की शरम को दूर करनेकी चेष्टा किया करता है—इस दोहेके धृष्ट नायककी भी यही दशा है।

शुक' प्रसादमें देना, और फिर उसके कारण आखोंका लाल होना, और साथही कहने वालीका साफ साफ यह कहना कि "ये क्रोध-से लाल नहीं हैं"— इस 'चक्कादार' 'खुले हुए' उत्तरमें वह बात कही है, जो—"लाल ! तिहारे दृगनको परी दृगनिमें छांह"— इस सीधी सादी, तडाक फडाक 'हाज़िर जवाबी'में है !!

यह उत्तर रहस्यपूर्ण, मर्मस्पृक्, युक्तियुक्त, बहुत सरल और नितान्त गम्भीर है। इसकी अखण्डनीयताकी सिद्धिके लिये प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं है। प्रश्नकर्त्ताको सन्देह हो तो दर्पण लेकर अपना मुह देखले, अपनी आखोंसे पूछले, यही उत्तर मिलेगा ! जो रंग 'आकृति'में है वही "प्रतिकृति"में दीखेगा।

इसके अतिरिक्त गीतिके 'उत्तर में जो 'अपह्नुति'—(क्रोध से लाल नहीं हैं)-मिली हुई है, उसने भावको खोल दिया। दोहे-के उत्तरमें वह भाव गूढ और चमत्कृत है ! प्रश्नकर्त्ताने जैसे अनजान बनकर पूछा है—इस भावको छिपाया है कि आखोंकी लालीसे मैं समझ गया हू कि तू क्रुद्ध है—वैसा नायिकाने उत्तर भी वैसा ही गूढ दिया है। ऐसे अवसरके लिये प्रश्नोत्तरका यह प्रकार बहुत ही हृदयङ्गम है। "तू क्यों क्रुद्ध है ? मैं तो क्रुद्ध नहीं हू"— इस खुले हुये प्रश्नोत्तरमें वह चमत्कृति नही रहती।

दोहेके शब्द भी कैसे जँचे तुले हैं, एक मात्रा भी व्यर्थ नहीं। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धके प्रारम्भमे आमने सामने 'लाल' ! और 'बाल' ! कैसे सुहावने और भले मालूम होते हैं ! कितनी बेसा-ख्तगी (स्वाभाविकता) है ! वार वार पढिये और सिर धुनिये ! वाह विहारीलाल वाह !



या मुट्ठी बन्द करके रुपये पैसे दिया भी करते हैं। और तरहसे 'नाथके'की खपत नहीं होती। क्योंकि मन केवल 'नाथके' ही हाथमें नहीं दिया गया, नाथने भी 'नाथा' (?) को दिया है। या 'नाथके' का अर्थ दोनोंकी ओर लगाया जाय—उसे दोनोंका—दुलहन दूल्हेका—उपलक्षण माना जाय—तो काम बने।

हरिप्रकाश सम्मत पाठमें यह अर्थ है कि—

हथलेवा—पाणिग्रहणकी विधिमें, हाथहीके संग—हाथ देनेके (हाथ—पकड़ानेके) साथ ही, परस्पर एक दूसरेने एक दूसरेके हाथमें मन दे दिया!

"लालचन्द्रिका"में इस (उत्तरार्द्ध) का अर्थ इस पहेलीमें किया है—"दुलहिन और दूलहेने दिया मन साथ स्वामीके हाथ लिये हुए ही हाथ!!" फिर कृपाकरके स्वयं ही इस पहेलीको इस तरह बुझाया है—"सिद्धान्त यह कि दोनोंने हाथसे हाथ मिलते ही, एक साथ ही, हाथों हाथ मन दिया। ब्याहमें एक रीति है कि वर कन्याका हाथ मिलाकर बांधते हैं, उसे हथलेवा' कहते हैं।"

—सो मन मुट्ठीमें बांधकर एक दूसरेको दिया—

"दिल दे दिया है यार को मुट्ठी में बन्द है"—।

इन सबसे सुगम पाठ "शृङ्गारसप्तशती" का प्रतीत होता है—

"दियौ हियौ सङ्कल्प करि हाथ जुरे ही हाथ।"

"सकल्पकरि"की कमी सी थी (सङ्कल्पसामग्री—जल, कुशा आदि तो शब्दोपात्त थे, पर 'संकल्प' अर्थगम्य था—उसको प्रोतन करनेवाला शब्द दोहेमें नहीं था,) सो इस पाठसे वह कमी पूरी हो जाती है! परमानन्द कविने इस का अनुवाद भी बहुत सुन्दर किया है। यथा—

दोहेमें कविने नायिका-बोधक-'दुलहिन' शब्द 'विवाह विधि'की सूचनाके लिये प्रयुक्त किया है, तथा इससे नायिकाका 'स्वकीया' और (प्रच्छन सम्बन्धसे पूर्व) कुमारी होना भी ध्वनित होता है। अर्थात् यद्यपि यह परस्पर आदान प्रदान, प्रच्छन्न रूपसे एकान्त स्थानमें सम्पादित हुआ है, पर है धर्मानुकूल शास्त्रसम्मत सम्बन्ध! आठ प्रकारके विवाहोंमें 'गान्धर्व विवाह'की भी गणना है। यथा—

"ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥" (मनु)

कामशास्त्रियोंने इनमेंसे "गान्धर्व विवाह" को ही सबसे अधिक गौरव दिया है। यथा—

"व्यूढानां हि विवाहानामनुरागः फलं यतः।
मध्यमोऽपि हि सद्योगो गान्धर्वस्तेन पूजितः॥"
"सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह।
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः॥" (वात्सायन, कामसूत्र)

× × ×

इस दोहेके उत्तरार्ध—

"दियौ हियौ संग नाथके हाथ दिये ही हाथ"—

में बहुत पाठान्तर हैं। 'लालचन्द्रिका' और 'अनवरचन्द्रिका' में उपर्युक्त पाठ है। 'प्रतापचन्द्रिका'में —"हथलेवा ही हाथ" है। 'हरिप्रकाशमें' " हाथके हथलेवा ही हाथ" और 'रसचन्द्रिका'में " संग साथके हाथ छिपे ही हाथ" पाठ है। कृष्ण कविके यहां "संग साथ के हथलेवा ही हाथ" —है।

इनमें पहले पाठमें "नाथके"—का अर्थ 'बाधकर' 'बन्द करके', 'लपेटकर', 'हाथसे हाथ साटकर'—इत्यादि किया जा सके तो ठीक हो। प्राय सात्त्विक दानी किसी चीजमें लपेटकर

"रोमोद्गम प्रादुरभूदुमाया, स्विन्नागुलि पुङ्गवकेतुरासीत्॥"
(कु० स० ७-७७)

"आसीद्वर कण्टकितप्रकोष्ठ', स्विन्नागुलि सवृते कुमारी॥"
(रघु० ७।२२)

सात्त्विक भाव—

१—"विकारा सत्त्वसम्भूता "सात्त्विका" परिकीर्त्तिता॥"
"सत्त्व नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्म"—
(साहित्यदर्पण)
(स्वात्मनि एव विश्रामो यस्य स रसादि (सत्त्व) तस्य प्रकाश उद्बोधस्तत्कारी) (साहित्यदर्पणटीका)

२—"सत्त्वमत्र जीवच्छरीर, तस्य धर्मा सात्त्विका॥"
(काव्यप्रकाश-टिपन्न्याम्)

३—"सीदत्यस्मिन् मन इति व्युत्पत्ते सत्त्वगुणोत्कर्षा त्साधुत्वाच्च प्राणात्मक वस्तु सत्त्वम्। तत्र भवा सात्त्विका।"
(हेमचन्द्राचार्य, काव्यानुशासन)

सत्त्व कहते हैं जीवच्छरीर—जीवित,(जिन्दा) शरीरको, उसके जो धर्म'—(वे गुण या चिह्न जिनसे जीवन-सत्ताकी प्रतीति हो-जिन्दगीका सबूत मिलता हो)-हैं, वे 'सात्त्विक' भाव कहलाते हैं।

अर्थात्—हर्ष शोकादिके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले मानसिक विकार-विशेषों (रोमाञ्च, अश्रु आदि) की साहित्य-परिभाषामें "सात्त्विक" संज्ञा है। और उनकी प्रतीति जीवन दशामें ही होती है। जिन "महानुभावों" के चित्तपर हर्ष शोकादिका प्रभाव नहीं पड़ता—हर्षके समय आनन्द और शोकके समय दुःखादिके सूचक चिह्न जिनके शरीरपर नहीं

"श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्त्ति तत् ।"

जिस (रूपक)में कुछ आरोप्यमाण, शब्दोपात्त हों और कुछ अर्थसामर्थ्यसे गृहीत होते हों, वह 'एकदेशविवर्ति रूपकालङ्कार' है।

'प्रतापचन्द्रिका'के मतानुसार 'रूपक'के अतिरिक्त 'सहोक्ति' अलंकार भी यहाँ है। सो इस प्रकार :— "हथलेवा-के हाथ संग ही हियौ दियौ" यातें "सहोक्ति"। लक्षण.—

"सो 'सहोक्ति' सब संग ही बरनत रस सरसाय।"
"कीरति अरिकुल संग ही जलनिधि पहुँचे जाय॥" (भाषाभूषण)



कुलवधू-वर्णन

१५

कहति न देवरकी कुबत कुलतिय कलह डराति।
पंजरगत मंजार ढिग सुकलौं सूकत जाति॥

अर्थ— देवरकी दुष्टता और कुलवधूकी शिष्टताका वर्णन सखी सखीसे करती है—

(कुलतिय कलह डराति, देवरकी कुबत न कहति)— —कुलवधू, कलहसे डरती है, इस कारण दुष्ट देवरकी बुरी बात (किसीसे) नहीं कहती। (मंजार ढिग, पंजरगत, सुकलौं, सूकत जाति)= मार्जार—बिलाव—के पास पिंजरेमें बन्द तोतेकी तरह सूखती जाती है।

—"पूर्णोपमालङ्कार"— सन्निहित मार्जार-त्रस्त पञ्जरगत शुक—उपमान। दुष्ट-देवर-दुःखिता कुलवधू—उपमेय। 'सूखना' साधारण धर्म। "लौं" वाचक।

ककारकी आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास" भी है।

रसचन्द्रिका, और 'लालचन्द्रिका'के मतमें "दृष्टान्तालंकार" है।

विशेष व्याख्या—

कोई दुष्ट देवर अपनी भौजाईपर आसक्त है, उसपर डोरे डालकर अपने जालमें फँसाना चाहता है, वह सती साध्वी है, उसके फन्देमें फँसना नहीं चाहती, उसके कुप्रस्तावोंकी उपेक्षा करती हुई, अपने व्रतको बचाए हुए है, पर वह अपनी कुचेष्टाओंसे बाज नहीं आता, जब मौका पाता है उसे छेडता और दिक करता है, वह बेचारी उस दुष्टके हाथों बहुत तंग है, वह 'कुलवधू' और समझदार है। देवरकी दुष्टताका हाल अपने पतिसे और साससे इस डरसे नही कहती कि भाई भाईमें लडाई और चर्चा फैलनेपर लोगहँसाई होगी। इसलिये सब कुछ अपनी जानपर झेलती हुई अपने 'धर्म' और 'कुल' दोनोंकी समान रूपसे रक्षा कर रही है—इस लोक और परलोक दोनोंको बना रही है— एकके लिये दूसरेको बिगाडना नहीं चाहती! इस सती शिरोमणि कुलरमणीका चरित सर्वथा प्रशसनीय और अन्य आधुनिक कलयुगी वधुओंके लिये अनुकरणीय है।

यद्यपि साहित्य-दृष्टिसे इस दोहेका विषय सिर्फ "रसाभास" का वर्णन है, और प्राय पहले सब टीकाकारोंने इसे इसी साधारण दृष्टिसे देखा है। पर बिहारीका यह "रसाभास"भी निरा नीरस नहीं है, इसमें भी "उपदेश रस" भरा हुआ है। यदि सूक्ष्म

दृष्टिसे देखा जाय तो इससे बहुमूल्य शिक्षा मिल सकती है। ख़ासकर आजकलकी "कुल-ललनाएँ" जो कुटुम्ब-कलहकी साक्षात् अधिष्ठात्री देवी बनी हुई हैं, जिनके Night School में Curtain Lectures सुनकर —जिनकी रात्रि-पाठशालामे—

भ्रातृणा मतत भेद कथ नाम न जायताम् ।
अभ्यपिताना पत्नीभिर्द्वेपविद्या सदा निशि ॥"

—इस वचनके अनुसार, द्वेष-विद्याकी 'अनिवार्य्य शिक्षा' पाकर अभिन्न-हृदय भाई, एक दूसरेके लिये कसाईसे वदतर बन जाते हैं! जो जरा जरासी नाकुछ बातपर विगडकर घरको विगाड बैठती हैं, भाइयोंको भडकाने और भिडानेके लिये रात दिन वहाने ढूढा करती हैं, कोई वात हाथ आयी नहीं और उन्होंने वातका बतंगड, सुईका फावडा और परका कौवा बनाकर भाई भाईमे लट्ठ चलवाकर एकघरके दो घर कराये नहीं। जिनकी 'कृपासे' भारतकी प्राचीन सम्मिलित कुटुम्बप्रथा आज नाममात्रको रह गयी है, जिन कर्कशाओंके विचित्र चरित्रका सुन्दर चित्र कविराज 'शङ्कर' महाराजने "अनुरागरत्न' के इस पद्यमें खीचा है —

सास मरे ससुरा पजरे इस वासरमें पलको न रहूँगी,
पानि जिठानी छटी ननदी अब एक कहेगी तो लाख कहूँगी ।
देट उठावाको मारु पटा सुत देवरकी फवती न सहूँगी,
ऐ दम अन्त नहीं पिया शङ्कर पीहरकी कल गैल गहूँगी ॥'

—ऐसी "कुल-देवियाँ" चाहें तो विहारीके इस दोहेसे अच्छी शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। अपने पवित्र चरित्रकी रक्षाके साथ कुटुम्ब-विनाशका कारण बननेसे भी बची रह सकती हैं।

सातवाहन-विरचित प्राकृत "गाथा सप्तशती"में भी दो गाथाएँ इसी अभिप्रायकी हैं। यथा —

(१)-' असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसील।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएण तणुआअए सोहणा ॥'
(असदृश-चित्ते देवरे शुद्धमना प्रियतमे विषमशीले।
न कथयति कुटुम्बविघटनभयेन तनुकायते स्नुषा ॥१।५१॥ ')

× × ×

(२)-"दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअकुड्डलिहिआइं।
दिअहं कहइ रामाणुलग्गसोमित्तिचरिआइं ॥ * '
(देवरस्याशुद्धमनसः कुलवधूर्निजक-कुड्यलिखितानि।
दिवसं कथयति रामानुलग्नसौमित्रिचरितानि ॥१।३५॥)

× × ×

पहली (५१वीं) गाथा विहारीके दोहेसे बिलकुल मिलती जुलती है। बल्कि इसी गाथाके कच्चे माल(कोरी कपास)को लेकर बिहारीने यह बहुमूल्य वस्त्र प्रस्तुत किया है। इसी प्राकृत गाथाके स्वच्छ सूतके तारोंमें अपनी प्रतिभाका चमकीला रेशम मिलाकर "ताफता' तयार किया है। गाथा सिर्फ सीधासादा रस रहित उपदेश था, मानो बाजरे की एक सूखी रोटी थी, बिहारीने उसमें मीठा, मलाई मिलाकर मजेदार मलीदा (चूरमा) बना दिया है। गाथामें कुछ चमत्कृति नहीं थी, बिहारीने—

---

* दुष्टहृदय (दुश्चरित्र) देवरको सच्चरित्रताकी शिक्षा देनेके लिये कुलवधू, दिनमें घरकी दीवारपर श्रीरामचन्द्र और सीताजीकी सेवा करनेवाले लक्ष्मणजीका चरित्र लिखकर समझाती है। कुटुम्ब-कलहके भयसे उसका साक्षात् तिरस्कार नहीं करती, इस प्रकार लक्ष्मण यतिका दृष्टान्त दिखाकर दुष्ट देवरको सन्मार्गपर लाना चाहती है।

"पंजर-गत मजार ढिग सुक लौं सूकत जाति"

—की बात पैदा करके उसे अतिशय चमत्कृत बना दिया ! जो सोना मिट्टीमें सना था उसका 'कुन्दन' बनाकर सुन्दर आभूषण गढ़ दिया है। पहली गाथाका अर्थ है—

"देवरदुष्ट-चित्त है, उसकी नियत बिगड़ी हुई है। वह सती है, उसका मन शुद्ध है। पति उसका उद्धत-स्वभाव (क्रोधी) है, वह इस डरसे देवरकी दुष्टताका हाल किसीसे नहीं कहती कि कुटुम्ब में फूट पड़ जायगी, भाई भाईमें चल जायगी, इसी सोच में दुबली होती जाती है।"

दोनों जगह भाव एक ही है। दोनों घरोंमें बहू सच्चरित्रा और देवर दुष्ट है। 'कलह' और 'कुटुम्बविघटन' के भयमें भी कुछ भेद नहीं है। "तनुकायते" और "सूकत जाति" का भी भाव एक है। पर विहारी ने विलाव और पिंजरेमें बन्द तोतेकी उपमासे दोहेको गाथासे कहीं उत्कृष्ट और अनुपम बना दिया है। इसीका नाम प्रतिभा है। साधारण घटनाको चमत्कृतियुक्त नवीनता तथा एक निराले ढंगसे वर्णन कर जाना और सीधीसी बातमें भी एक बाकपन पैदा कर देना ही प्रतिभाका स्वरूप और कविका काम है। विलाव और पिंजरेके तोतेकी उपमा, इस घटनाके कितनी अनुरूप है ! देवरकी दुष्टता और बहूकी विवशता, इससे बढ़कर किसी अन्य 'उपमा' से प्रकट नहीं की जा सकती थी। तोता पिंजरेके कारण बचा हुआ है सही, पर पासमें विद्यमान विलावके झपटेका डर, उसे हर वक्त सता सताकर सुखा रहा है। दृढ़ पिंजरेपर विलावका दाव नहीं चल सकता, पर झपटेका डर ही उसे सुखानेको काफी है। क्रूर विलावकी मनहूस सूरत देखकर ही बेचारे तोतेकी जान निकली जाती है।

इसीप्रकार वधू पातिव्रत धर्मके कवचके कारण बची हुई है सही, पर दुष्ट देवरके बलात्कारका भय उस अबला-को बेतरह सुखाए डालता है। बलात्कारका पंजा तन पंजरपर पड़ा नहीं और प्राण पखेरू उड़ा नहीं! इतनेपर भी धन्य है उस कुलवधूके मर्यादाशील साहसको, उसे अपनी जानपर खेल जाना मन्जूर है, पर कुटुम्बकलहका कारण बनना मन्जूर नहीं—"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे"—के अनुसार वह कुलके लिये एकको—अपनेको—त्यागनेपर —"आत्म-त्याग" करनेपर—उतारू है।

इस दोहेपर टीका करते हुए श्रीलल्लूलालजीने एक विचित्र 'प्रश्नोत्तर' दिया है, जो सुनने योग्य है। एक इसी जगह नहीं और भी कई जगह महाराजजीने ऐसी ही लीला दिख-लायी है (यथा ४६ वें, तथा ५६ वें, दोहोंकी टीकाओंमें)। डाक्टर ग्रियरसन द्वारा सम्पादित लालचन्द्रिकाके अन्तमें एक परशिष्ट जुड़ा है, जिसमें इनके ऐसे ही कल्पित अन्य कई अद्भुत अर्थोंकी सगतिके लिये श्रीपण्डित प्रतापनारायणजी मिश्र, प० अम्बिकादत्तजी व्यास, पं० सरयूप्रसाद मिश्र, और बा० रामदीनसिंहजी कृत समाधान, संगृहीत हैं। बहुतसे दोहोंको इनके (लल्लूलालजीके) शका-समाधानने बिलकुल पहेली बना दिया है, अर्थान्तरकी धुनमें अनर्थ हो गया है। और भी किसी किसी टीकाकारने कहीं कहीं कुछ शंका-समाधान किया है, पर ऐसा विलक्षण नहीं। उदाहरणके लिये इस दोहेकी "लालचन्द्रिका" नीचे दी जाती है ——

"स्वकीयाऽऽसुरविवाहन-र्णन"

"टीका—स्वकीया वचन सखीसे। कहती नहीं देवरकी बुरी बात। कुलवती स्त्री कन्दाम डरती है। पजर—(कहे पिंजरा) गन—(कहे गया)

मजार—(कहैं बिलाव) ढिग—(कहैं निकट) शुक—(कहैं तोता) लौं—(कहै भांति) सूखती जाती है। सिद्धान्त यह । कि जैसे पिंजरेके पास बिलावके भयसे डरकर तोता सूखता है । तैसे दुबली होती जाती है।

प्रश्न—देवरका अनुराग धर्म-विरुद्ध होता है, और इसका वर्णन अनुचित है, और इसमें रस भी नहीं ।

उत्तर—जिठानीके वचन दौरानीसे । जिठानी पूछे है कि तू मेरे देवरकी बात मुझसे क्यों नहीं कहती। दौरानी अपने स्वामीको क्रोधी देखि, बिलाव सम जिठानीसे नहीं कहती, इसलिये कि जो मैं इससे कहूंगी, तो यह अपने स्वामीसे कहेगी, और भाई भाईमें झगड़ा होगा । इस हेतु पिंजरेके तोतेकी भांति दुबली होती जाती है। दृष्टान्तालङ्कार स्पष्ट है"

'प्रश्नोत्तर' तो जो है सो है ही, पर दोहेकी चोटीपर जो हैडिंग धरा गया है, वह और भी 'अलौकिक' है !—"स्वकीयाऽसुर विवाह वर्णन ॥"

—न मालूम किस धर्मशास्त्रके अनुसार इसका नाम "असुर-विवाह" है, और किस साहित्यग्रन्थमें भौजाई (भ्रातृजाया) की गणना "स्वकीया" में है ! जितने साहित्यग्रन्थ प्रसिद्ध हैं उन सबमें "स्वकीया" के 'ज्येष्ठा' और 'कनिष्ठा' ये दो या मुग्धा, मध्यमा और प्रगल्भा, इस प्रकार तीन ही भेद वर्णित हैं । 'भाभी' या भ्रातृवधूको, जहां तक हमें मालूम है, किसीने "स्वकीया" में नहीं गिना ! यदि 'स्वकीय' घरमें रहनेके कारण और 'स्व' शब्दके अर्थों—(आत्मत्व, आत्मीयत्व, ज्ञातित्व और धनत्व) मेंसे किसीके बलपर, अथवा "भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः" (भ्राता अपनी ही मूर्ति है—इसलिये उसकी चीज भी अपनी चीज है !) यह समझकर, भाभीको 'स्वकीया' की उपाधि दे दी जायगी, तबतो मामला और भी इससे आगे बढ़ सकता है । साहित्य-परिभाषित नायिका-वाचक "स्वकीया"— शब्द योगरूढ़ है । इसलिये

नायकके घरकी सब स्त्रियां उसकी "स्वकीया" नहीं कहला सकतीं ! आश्चर्य है कि कवि परमानन्द जैसे साहित्यज्ञ और संस्कृतके विद्वान्ने भी इस दोहेको व्याख्याके प्रारम्भमें—"पुनरपि स्वीयामाह"—न जाने कैसे और किस विचारसे लिख दिया है !

और, लल्लूलालजोकी यह शंकासमाधानकी पहेली हमारी समझमें तो आयी नहीं ! एक ओर तो आप उसे "स्वकीयाका आसुर विवाह" ठहरा रहे हैं, और दूसरी ओर उसका 'वर्णन अनुचित' बतला रहे हैं ! इसका वर्णन तो अनुचित नहीं है पर आपका भाभीको 'स्वकीया' कहना अनौचित्यकी पराकाष्ठा जरूर है !

रहा, 'धर्मविरुद्धता' की बात। सो सिर्फ देवर भौजाईका ही क्यों, परकीय और परकीयामात्रका अनुराग धर्मविरुद्ध है। काव्य कोई धर्मशास्त्र नहीं है कि उसके वर्णन, विधि-वाक्यकी दृष्टिसे देखे जायँ। कवि, संसारमें जो कुछ देखता है उसीका वर्णन करता है। "वर्णन अनुचित है" से यदि अभिप्राय यह है कि—

"रसाभास दूषन गिनौ अनुचित वर्णन माहिं।"

तो इसका यह मतलब नहीं है कि काव्योंसे रसाभासके उदाहरण ही उड़ा दिये जायँ, या उनका अर्थ बदलकर अनर्थ कर डाला जाय ! यदि अनुचित समझकर कवि लोग इनका वर्णन ही न करें तो फिर 'रसाभास'के उदाहरण क्या श्रुतियोंमें ढूंढे जाया करेंगे ! रसाभाससे बचनेका अभिप्राय यह है कि किसी काव्यगत वर्णनीय आदर्श नायकके प्रधान चरितमें रसाभासका समावेश न हो। यदि नायक ऐतिह्य है और उसका कोई चरितविशेष रसाभाससे दूषित है जिसका वर्णन करना किसी कारणसे कविके लिये आवश्यक हो—(जैसा 'महाभारतमें

और उसके आधारपर रचित नाटकों आदिमें क्रोधान्ध अर्जुनका युधिष्ठिरको मारनेके लिये शस्त्र उठाना । या द्रौपदीका पाँचों पाण्डवोंमें अनुराग)—तो ऐसी दशामें रसाभासका वर्णन अपरिहार्य है। अथवा किसी काव्यकी रचना ही इस उद्देश्यसे की जाय कि काव्यगत नायक या नायिकाके 'रसाभास'-पूरित दूषित चरितको पढ़कर लोग शिक्षा ग्रहण करें, वैसे प्रसङ्गोंसे बचे रहें, तो उस दशामें भी रसाभासवर्णन दूषण नहीं, किन्तु कविताका भूषण है । जैसे "क्षेमेन्द्र" की "समयमातृका" और "दामोदरगुप्त"के 'कुट्टनीमत' में रसाभासकी साक्षात्मूर्ति वाराङ्गनाओंके चरित्रोंका वर्णन किया गया है।

"सतसई" किसी एक आदर्श नायकके चरितको लेकर नहीं बनायी गयी । यह कोषात्मक(फुटकर)काव्य है। हर किस्मकी तस्वीरोंका एक बड़ा 'ऐलबम' है । हां,जहा जहा साक्षात् कृष्णचरित-की झलक है, वहाँ वहाँ 'रसाभास' पास नहीं फटकने पाया, और जहा बीचमें ऐरा गैरा अन्य सांसारिक लोगोंकी किसी करतूत या चेष्टाका वर्णन है, वह वर्णनवैचित्र्यके साथ जैसी है वैसी ही है ।

कोई चित्रकार यदि किसी कुरूप व्यक्तिका सुरूप चित्र बना कर दिखलावे तो वह चित्रकार नहीं, ठग है । चित्रकारकी निपुणता इसीमें है कि जो जैसी व्यक्ति है उसका वैसा ही चित्र उतार दे, स्याहको 'सफेद' कर दिखाना चित्रकारी नहीं है। इसी प्रकार कविका कर्तव्य यही है कि वस्तुस्थितिका यथार्थ वर्णन कर दे। जब किसी धर्मात्माका वर्णन करे तो साक्षात् उसके स्वरूपका दर्शन करा दे और जब पापीका वर्णन करने लगे तो उसकी भी मूर्ति सामने लाकर खड़ी कर दे।

जब संसारमें सब देवर 'लक्ष्मणयति' नहीं हैं। 'दुष्ट देवर' भी मौजूद हैं । और ऐसी घटनाओंकी भी कमी नहीं है। तो उसका

वर्णन करना कौनसा पाप है ! और इसकी क्या जरूरत है कि ऐसे वर्णनको खींच तानकर 'मानव धर्मसूत्र'का स्वरूप देनेकी चेष्टा की जाय । और फिर धर्मशास्त्रोंमें भी तो सब बातें विधिरूपसे वर्णित नहीं होतीं। भगवान् मनुने 'आसुर' और 'पैशाच' विवाहका भी वर्णन किया है। पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि ऐसे विवाह अवश्य-कर्त्तव्य हैं । या किसी श्रोत्रियके लिये भी विहित हैं। किन्तु संसारमें भले बुरे विवाहके मुख्यतया जितने प्रकार हो सकते हैं, या उस समय प्रचलित थे, वे गिना दिये हैं।

फिर विहारीके इस 'रसाभास' वर्णनमें कोई ऐसा विषैला साँप नहीं छिपा बैठा, जिससे बचनेके लिये सीधा और साफ रास्ता छोड़कर इधर उधर भटकने और चक्कर काटनेकी जरूरत हो, इससे तो उल्टी एक उत्तम शिक्षा मिलती है, जैसा कि ऊपर (विशेष व्याख्यामें) दिखलाया जा चुका है।

और लल्लूलालजीका उत्तर भी देखिये क्या बढ़िया है, उससे दोहा बिलकुल पहेली बन गया है या नहीं।

लल्लूलालजीकी पहेली

न मालूम, यौरानी अपने पतिकी कौनसी बात जिठानीसे छिपाती है और इसलिये कहती डरती है कि "जो मैं इसस कहूंगी तो यह अपने स्वामीसे कहेगी और भाई भाईमें झगड़ा होगा।"—

—शायद 'यौरानी' के पतिने भाईको चोरा चोरी 'कोरचा' करके कुछ रकम जमा करके कहीं छिपा दी है, जिसका सुराग बड़े भाईकी बहूको किसी तरह लग गया है और वह अपनी यौरानीसे इसी बातका भेद पूछना चाहती है कि —"वे 'कोरचे'के रुपये मेरे 'देवर' (तेरे पति) ने कहां गाड़ रक्खे हैं ?" यौरानी

उक्त दोहेपर अन्य टीकाओंका अर्थान्तर—

"—किंवा (पूर्वोक्त स्वरमार्थके अतिरिक्त) जेठानी पूछति है देवरानी सों, तू हमारे देवरकी कुबात कहति है नहीं क्यौं, तो सौ रूठयो है, कै अवरि (अन्य—और स्त्री) सों आसक्त है,' किंवा—उन मौ भई कलह तावों क्यौं न कहै डराति है कहति कै। आग वही अर्थ, उपमालङ्कार। (हरि-प्रकाश)

" और (अन्य) अर्थ,—'जिठानीके वचन सखी मो। अन्यासक्त मेरो देवर है, सो मेरी योरानी कुलतिय है कुमति नाहीं कहति।" पै (पर) यह अर्थ रसाभासको प्रकरण विगारे है, अरु धर्मविरोधको तौं दूरि करै है।"

—(प्रतापचन्द्रिका)

"अपने देवरकी 'कुमति' वात कहत, कुलतिय है, मो कहलहसे डरे है, सो दिन दिन सूखती जाइ है जैस सुवा पिजराके ढिग विलैया कौ देखै सूखै है॥ और याके अर्थ फेरनेमें बखेड़ा है॥ अलङ्कार दृष्टान्त, तिसका लक्षण"—जो दृष्टान्त दै कै कहिए", इहा कुलतियके सूखनै को दृष्टान्त सुनाकै सूखनेको दियौ॥' (रसचन्द्रिका)

(रसचन्द्रिकामें "कुबत"की जगह—'कुमति' पाठ है)

"हा रसाभास, उपमालङ्कार।" (अनवरचन्द्रिका)

"विलाव सम" जिठानीसे नहीं कहती। क्योंकि उसका पति क्रोधी है—सचमुच वेचारीकी आफत है, जिठानी 'विलावसम' और पति ('कुत्ता सम'?) क्रोधी। दोनो तरह मुशकिल है—"गोयद् मुशकिल, व गर न गोयद् मुशकिल"। बतलावे तो यह डर कि "जिठानी अपने स्वामीसे कहेगी और भाई भाईमें झगडा होगा"। और न वतलावे तो पति क्रोधी है, वह शायद इस अपराधमें दण्ड दे कि तूने वतला क्यों नहीं दिया। (सचको क्यों छिपाया! मैंने चोरी की,तो की, तूने तो सच न छिपाया होता!

प्रश्न—"देवरको अनुराग यह धर्म-विरोध विचारि ।
वर्नन अनुचितसो लगत रसवरत्व न निचारि ॥
उत्तर—वचन जिठानी के कहति दौरानीकी बात ।
मो देवरकी कुमत यह कहत सु हियो डरात ॥
निजपति को वह कलह मो जानि मजार ममान ।
सुकलौ सूकति रोसरी प्रकृति लखत दिनमान ॥
श्लेषालङ्कार-'सुकलौ' कहिबे में नर मादेको एकही मता है ।" (अमरचन्द्रिका)

शरीरका अर्द्धाङ्ग पाप-रोगसे नष्ट हो गया तो खैर, आधा तो बचा रहे, दोनोंमेंसे एक तो परमात्माको मुह दिखानेके काबिल बना रहे ! ! आखिर दुनिया क्या कहेगी, कि पतिने रुपया छिपाया तो स्त्रीने सच छिपाया, दोनों ही एकसे निकले ! !

यदि वास्तवमें इस दोहेका यही अर्थ है तो इसका हैडिंग स्वकीयाऽसुरविवाह-वर्णन' न होकर—"छोटे भाईका कोरचा वर्णन और जिठानीका दौरानीसे पूछना वर्णन"—होना चाहिये था !

—और यदि वही हैडिंग रखना मसलहत हो तो फिर यों अर्थ करना पडेगा कि —

"छोटा भाई आसुर विवाह करके कहींसे अपनी इस स्त्रीको उडा लाया है और सर्वसाधारणमें अपने विवाहको 'ब्राह्म' बतला रक्खा है,इसलिये यह (जिठानी)आसुरविधि-विवाहिता(या उडायिता!)अपनी दौरानीसे उसका सच सच हाल पूछती है और वह इस भयसे छिपाती है कि, "जो मैं इससे कहूगी तो यह अपने स्वामीसे कहेगी" मालूम होनेपर बडा भाई छोटे भाईको बिरादरीसे बाहर कर देगा और बहिष्कृत क्रोधी पति इसकी कसर मुझपर निकालेगा, इस बिलावसीका क्या बिगडेगा ! ! !

किसी और तरहसे लल्लूलालजीकी यह उत्तररूप 'पहेली' बुझाई जा सके तो विज्ञ पाठक भी अपना दिमाग लडा देखें ।

अमरचन्द्रिकाके इसी प्रश्नोत्तरका भाव हरिकविने अपने अर्थान्तरमें प्रकारान्तरसे लिखा है। और लल्लूलालजी मालूम होता है इससे ही गडबडा गये हैं—इसे स्पष्ट करके नहीं लिख सके हैं।



१६

पार्‌यौ सोर सुहाग को इन बिन ही पिय नेह।
उनदौंहीं अँखियां ककै कै अलसौंहीं देह॥

अर्थ—सपत्नीको सखीसे नायिकाकी सखीका वचन—(इन बिन ही पिय नेह, सुहागको सोर पार्‌यौ)—इसने बिना ही प्रियके स्नेहके सुहागका शोर मचा रक्खा है। [अंखियां उनदौंहीं ककै, देह अलसौंहीं कै]—आँखे उनींदी— रात्रि जागरणके कारण जिनमें नींद भरी है—कर करके, और देह आलस भरी बनाकर।

अभिप्राय यह कि सखीके सुहागको किसी सौतकी नजर न लग जाय। या वे डाहसे जलकर उसपर कोई अभिचार-क्रिया न करने लगें, इसलिये सौतकी सखीसे सौभाग्यवती नायिकाकी सखी कहती है कि इसने [मेरी सखीने] झूठमूठ ही अपनेको सौभाग्यवती —पतिकी विशेष प्रेमपात्र, (जिसे पति चाहे वही सुहागन।)— प्रसिद्ध कर रखा है, इसकी नींद भरी अँखियों और अलसानी देहसे यह न समझना चाहिये कि यह दशा सौभाग्य-सूचक प्रियसम्भोगजन्य रात्रिजागरणके कारणसे है, किन्तु यह वैसे ही अपने सुहागकी शोहरतके लिये यह बनावटी हालत बनाए रहती है!

अथवा— सखी नायिकाके सुहागको इस बहानेसे और शोहरत देना चाहती है, प्रकटमें तो कहती है कि यह नायककी प्रेमपात्र नहीं है। पर ऐसा कहना सुहागकी प्रसिद्धिका दूसरा ढग है। जैसे किसी प्रसिद्ध धनाढयका मुनीब कहे कि— "अजी हमारे सेठके यहा इतना खजाना कहाँ है। वैसे ही शोहरत उडा रक्खी है"— तो यह भी शोहरतको तरक्की देनेका एक दूसरा तरीका या ढग है।

किसी छलसे या दूसरे ढंगसे इस प्रकार काम निकालनेके वर्णनका नाम 'पर्यायोक्ति' अलंकार है। सो यहाँ दोनों दशाओंमें 'पर्य्यायोक्ति' है। यदि कहनेवालीका पहला अभिप्राय है ता सखीको सौतोंकी बदनजरसे बचाना उसका इष्ट है,जिसे इसप्रकार –सुहागकी बातको झूठ बतलाकर–सिद्ध करना चाहती है। यदि दूसरा मतलब है, तो सखीके सुहागकी सुप्रसिद्धि इष्ट है, जिसे इस ढंग से सिद्ध करना चाहती है।

अथवा— यदि इसे सपत्नीकी सखीका वचन मानें, तो 'अमर्ष सञ्चारी' भाव व्यङ्ग्य है। कहनेवालीका अभिप्राय यह है कि नायककी प्रेमपात्र तो मेरी सखी है, इसे तो वह पूछता भी नहीं, इसने वैसे ही सौभाग्यके कृत्रिम चिह्न प्रकट करके झूठ मूठ ही अपने सुहागका ढोल पीट रक्खा है। इस अर्थमें 'विभावनालंकार' है।—

"विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।"

—अर्थात् जहा विना कारणके ही कार्योत्पत्ति दीखे वह 'विभावना' है। जैसे यहाँ, प्रियस्नेह, सौभाग्यका कारण है, उसके विना ही सुहागका शार जो 'कार्य' है, नायिकाने प्रकट कर रक्खा है।

'वय:सन्धि'का इससे सुन्दर वर्णन अन्यत्र कम मिलेगा। 'ताफ़ते'के रंगकी चमकने लड़कपन और जवानीके मेलको चमका दिया है ! बड़ी अनुरूप उपमा है ! धूपछाँह (ताफ़ते) के ताने बानेकी अलग अलग निराली शानकी चमक दमकमें और लड़कपन-मिली जवानीकी झलकमें, हृदयाकर्षक सादृश्य है 'ताफ़ते'के 'धूपछाँह' नाम और सूती और रेशमी मिलावट के—ताने बानेके— काम पर दृष्टि डालकर इस उपमाकी ओर देखा जाय तो एक और भी सौन्दर्यमिश्रित सूक्ष्म सादृश्यकी झलक आँखोंमें फिर जाती है ! "धूपछाँह"मेंकी 'छाँह' तो सीधी सादी शिशुता—भोला भाला लड़कपन—है, जिसमें छायाके समान शान्ति है, 'शिशुता' कामादि सन्ताप के वेगसे रहित है । 'धूप'—जवानीकी चमक है, जिसमें कुछ उष्णता (हरारत) भी मिली है !

—वय सन्धिके ताफ़तेमें 'सूती' भाग—लड़कपनकी सादगी है। रेशमकी चमक, जवानीकी झलक है !

"वाचकलुप्तोपमा" अलङ्कार है —

—'देह' उपमेय है, 'ताफता' उपमान है। 'दिपना' (चमकना) साधारण धर्म है। उपमावाचक शब्द—"ऐसे, जैसे" इत्यादि लुप्त है— नहीं है। दकारकी आवृत्तिसे 'वृत्त्यनुप्रास' भी है।

"अनवरचन्द्रिका"में "दिपति ताफता रंग"की जगह, "मनहु ताफता रंग" पाठ है। इसलिये उसके मतमें 'उत्प्रेक्षा' है। 'रसचन्द्रिका'में भी " मनहु " पाठ है। पर उसके यहां अलङ्कार फिर भी 'उपमा' ही है (!)



१८

तिय-तिथि तरनि-किसोरवय पुन्य काल सम दौन।
काहू पुन्यनि पाइयत बैस-सन्धि-संक्रौन ॥

अर्थ—नायकसे सखीका वचन। (तिय-तिथि)—नायिका तिथिरूप है। (तरनि-किसोर वय)—किशोरावस्था तरणि=सूर्य्य है। (पुन्य काल सम दौन)—दोनों—(जाने और आनेवाली) अवस्थाओं—शिशुता और जवानी—का संयोग—वय सन्धि—पुण्यकालके समान हैं। (काहू पुन्यनि)—किन्हीं बडे पुण्योंसे (वैससन्धि-संक्रौन पाइयत)—वय सन्धिरूप संक्रान्ति मिलती है। कोई बडभागी पुरुष बडे पुण्यों करके इसे पाता है।

सखी नायिकाकी वय सन्धिको "संक्रान्ति" का रूपक देकर नायकको उससे मिलाना चाहती है। 'संक्रान्ति' किसी तिथिमें होती है सो नायिका ही वह 'तिथि' है। जब सूर्य एक राशिको छोडकर दूसरी राशिमें जाता है तब संक्रान्ति होती है। सूर्य्यके-संक्रमण कालको— उस अन्तरको जो सूर्यको एक राशिसे दूसरी राशि तक जानेमें लगता है, 'संक्रान्ति' कहते हैं। सो यहाँ किशोर वय—बाल्य और तारुण्यकी सन्धि- ही सूर्य है। वह बाल्यावस्थारूप एक राशिको छोडकर तारुण्यावस्थारूप दूसरी राशिमें संक्रम (प्रवेश) कर रहा है, यह वय सन्धि ही यहा संक्रान्ति है।

संक्रान्तिका समय बडा माहात्म्यपूर्ण और पुण्यप्राप्य माना गया है, और वह बहुत थोडी देर रहता है, इस कारण सर्वसाधारणके लिये उसका पाना बहुत दुर्लभ है। कोई चतुर सुजान ही अपने सुकर्मोंसे उसे पाता है।

—यहा "समस्त वस्तु-विषय सावयव रूपक" अलंकार है।

'समस्तवस्तुविषय, श्रौता आरोपिता यदा।" (काव्यप्रकाश)

—जिसमें उपमेय—'आरोपविषय'के समान ही उपमान—'आरोप्यमाण'—सब शब्दोपात्त हों(कोई अर्थ गम्य न हो)वह समस्तवस्तुविषय है। "समस्तं वस्तु—आरोप्यमाणं, विषय —शब्दप्रतिपाद्यो यत्र"। प्रधान—(अङ्गी)—के साथ उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अङ्गोंका भी जहा निरूपण हो वह 'सावयव रूपक' कहाता है।

—सो यहाँ आरोपविषय—उपमेय, (किशोरवय,तिय आदि) और आरोप्यमाण—उपमान—(तरणि, तिथि आदि) सब शब्द निर्दिष्ट हैं। किशोरवय-'अङ्गी' है, संक्रमण' उसका 'अङ्ग'—(आरोपका कारण)है।† ।

इस रूपकमें 'संक्रान्ति'के साथ 'वय सन्धि'की पूरी संगति मिलानेके लिये प्राय. सब टीकाकारोंने भिन्न भिन्न

---

† वय सन्धिनिरूपण-परक एक यह संस्कृत पद्य भी "समस्तवस्तुविषय सावयव रूपक"का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। यथा ——

"उदयति तरुणिम-तरणौ शैशव-शशिनि प्रशान्तिमायाते।

कुच-चक्रवाकयुगल तरुणि-[णी]-तटिन्या मिथो मिलति॥"

अर्थ—"शैशव-(लड़कपन) रूप चन्द्रमा के छिप जानेपर और तारुण्य-(जवानी) रूप सूयके उदय होनेपर, तरुणी-[युवति]-नदीपर कुचरूप चकवी चकवेका जोडा, आपसमें मिल रहा है।"

यहा, १-तरुणिमा, २-शैशव, ३-कुच, ४-तरुणी—इन उपमेयोंके समान ही ये सब उपमान— १-तरणि, २-शशी ३-चक्रवाक‡ और ४-तटिनी भी शब्द-निर्दिष्ट हैं। 'कुच 'अङ्गी' है। 'मिथोमिलन 'अङ्ग' है।

प्रकारकी व्याख्याएँ की हैं। उनका संक्षिप्त भाव यह है—

"यहाँ सूर्य तो किशोर वय है पर केवल एक उसीसे संक्रान्ति-की ममता नहीं बनती, क्योंकि जब सूर्य दो राशियोंका स्पर्श करता है, तब संक्रान्ति होती है। किशोर-वय रूप सूर्यके इधर उधर दो राशि-योंकी स्थानापन्न दो अवस्थाएँ और होनी चाहियें, सो यहा शिशुता और यौवनावस्थारूप दो राशियोंके मध्यमें किशोरवयोरूप सूर्य्य स्थित है। ऐसा समझना चाहिये।" —यह 'अमरचन्द्रिका'के प्रश्नोत्तरोंका सार है।

'लालचन्द्रिका'में, "तरुण अवस्थाको सूरज" ठहराकर उसे बाल्यावस्थारूप राशिसे मिलाया है, और फिर स्वयं ही आगे चलकर —"इन दोनों अवस्थाओंकी सन्धि (उसके बीचमें जो चमक हुई) उस सूरज कर वर्णन किया।"— ऐसा लिखा है! लल्लूलालजीकी यह संगति मूलके विरुद्ध है। क्योंकि मूलमें स्पष्ट "तरनि—किशोरवय।" है अर्थात् किशोरावस्था सूर्य्य है। तरुणावस्था (सूर्य्य) नहीं।

'रसचन्द्रिका'में इस गड़बड़से बचनेके लिये दोहेके पूर्वार्द्धका पाठ ही बदल दिया है।——

—"तिय तिथि तरुन-किसोरवय पुन्य काल सम दौन।"

'तरनि' (सूर्य)का 'तरुन' (तारुण्य) पाठ करके यह व्याख्या की है कि—"तारुण्य और किशोरका जो समता है नहीं पुण्यकाल है, और यह जो इन दोनों अवस्थाओंकी सन्धि है वही सक्रौन—संक्रान्ति है। जो दो वयस मिलें तो सन्धि (वय सन्धि) होती है, सो बिहारीने जो शिशुताकी सन्धि न ली सो इसवास्ते कि शिशुतामें यौवन नहीं आता, न उस (शिशुता)में तेज ही होता है जो किशोरकी उपमा दी जा सके (?) किशोर और यौवन दोनों जगह तेज है, इससे किशोर तरुणकी और संक्रान्तिकी उपमा दी है।"—

—"और शिशुतामें तथा तरुण, किशोर अवस्थाकी संक्रान्तिकी सन्धि

ठहरावें तो नहीं हो सकती, क्योंकि किशोरवय ११—से १४ वर्ष तक तीन वर्ष रहती है, और सक्रान्तिका समय इतना सूक्ष्म है कि पाना दुर्लभ है"— (रसचन्द्रिका)

—परन्तु यह कल्पना 'समस्त वस्तु विषय'—रूपकका रूप विगाडती है। 'तरणि'की जगह 'तरुण' (तारुण्य) पाठ रक्खा जाय तो "तरणि"—(सूर्य) 'अर्थगम्य' हो जायगा, 'शब्दोपात्त' न रहेगा, इसलिये 'समस्त-वस्तु-विषय' रूपक भी न रहेगा 'एकदेशवर्त्ति' हो जायगा, जो सब टीकाकारोंके मतके विरुद्ध होगा। सबने (स्वयं रसचन्द्रिकाने भी) यहा 'समस्त-वस्तु-विषय' रूपक माना है। इसके अतिरिक्त "किशोरावस्था ३ वर्ष तक रहती है इसलिये 'बाल्यावस्था'से तरुणताकी सन्धिको सक्रान्तिका रूपक नहीं दे सकते, क्योंकि दोनोंके बीचमें ३ वर्ष रहने वाली किशोरावस्थाका अन्तर है" —यह शङ्का भी व्यर्थ ही है। क्योंकि कविने स्वयं इससे पहिले १७वें दोहेमें 'शिशुता'की बाह सीधे 'जोवन'को पकडायी है मध्यस्थ (बिचौलिया) किशोरको नही पूछा! कविता कोई गणित-शास्त्र नही है, जिसमें उपमेय और उपमानके घंटे मिनट और सेकेंड तकका टोटल ठीक बराबर बैठे, तभी रूपक बने। कवि लोग वियोगके एक क्षणको कल्प बराबर, और सयोगकी एक रात्रिको क्षणसे भी बहुत कम, वर्णन करते हैं,⊛ इसपर कोई गणितज्ञ स्लेट पेन्सिल लेकर इसका हिसाब जोडने बैठ जाय तो बडा फर्क निकले। गणितके हिसाबसे कवि अपने कथनको किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं कर सकता,

⊛ एक उर्दू कविने १६-वर्षसे ३०-वर्षतक रहनेवाले "शबाब" (यौवन) को कैसा दृष्टनष्ट बतलाया है —

"न जाने बर्क की चम्मक थी या शररकी लपक।
ज़रा जो आंख झपक कर खुली शबाब न था!!"

बर्क की चम्मक—बिजलीकी कौंद। शररकी लपक—चिनगारीकी चमक।

यह इस सवालमें साफ फेल हो सकता है। परन्तु भुक्त-भोगी सहृदय समाज जानता है कि कवि जो कुछ कहता है, 'एक हिसाबसे' बिलकुल ठीक कहता है। उसे इसमें अधिक नहीं तो पूरे नंबर जरूर मिलने चाहियें। कुछ इनाम भी दे दिया जाय तो परीक्षककी कद्रदानी है।

किसी अत्युत्कृष्ट दुर्लभ पदार्थकी प्राप्तिके लिये जब किसीको उत्तेजित किया जाता है तो यही कहा जाता है कि —"लेना है तो फौरन ले लो, अभी मौका है, फिर न मिलेगी"। (फिर चाहे वह चीज 'तीन बरस' नहीं 'छे बरस' तक वैसेही धरी रहे।) किसीने क्या खूब कहा है —

"लेनी है जिन्मे-दिल तो जालिम! तू आज ले चुक!
पड़ जायगा वगरना फिर इसका कलको तोड़ा।"

हरि कविने, दूसरी तरह संगति मिलायी है और अच्छी मिलायी है। यथा —

"बारह महीने के बारह सूर्य्य है, माघमें अरुण नामक सूर्य्य तपता है, फाल्गुनमें 'सूर्य' सज्ञक सूर्य तपता है और चैत्रमे 'वेदाग' सूर्य तपता है— इत्यादि। ऐसा 'आदित्य-हृदय' ग्रन्थमें लिखा है। सूर्यमण्डलमें कोई स्थानविशेष है, वहा मास पूर्ण होनेपर कोई सूर्य उठता है कोई बैठता है, इसीका नाम "सक्रमण" है वह अतिसूक्ष्म और पुण्यकाल है।"

—"तियमें सक्रान्ति होती है, सो नायिका 'तिथि' है, किशोर जो वय — क्रम है वह तरणि—सूर्य है। सो 'शैशव' नामक सूर्य बैठता है और 'किशोरनामक

सूर्य उठता है (आता है)। यह अर्थ न करें तो आगे "वयस सन्धि" पद नहीं लगेगा,क्योंकि दो वय क्रम हों तब सन्धि (वय. सन्धि) कहना बन सके।"

"पुन्य—काल समदोन"—का अर्थ —

—'दोन' दोनो अर्थात् एक अवस्था (शिशुता)का जाना, दूसरी (कैशोर) अवस्थाका आना, सूर्यके पुण्यकालके समान हैं, अतिसूक्ष्म और प्रशस्त हैं। 'काहू पुन्यनि'—कोई बड़े पुण्यसे पाता है, वयसकी सन्धि और सक्रान्ति (वयः सन्धिरूप सक्रान्ति!)—"

इसके आगे हरि कविने 'पुण्य पुण्य'को पुनरुक्ति मानकर उससे बचनेके लिये अर्थान्तर कल्पना भी की है। यथा —

" 'पुण्य पुण्य'की पुनरुक्ति मिटानेको ऐसा अर्थ करना चाहिए— हे पुण्य! हे सुन्दर! (अनेकार्थ कोशमें पुन्य नाम सुन्दर, सुकृत और 'पावन का है) 'काल सम दोन'-अर्थात् सक्रमणका काल और वय सन्धिका काल दोनों सम हैं। किंवा, हे पुन्य! यह जो वय सन्धिका काल है, उसे "सम दो न"—विदा मत दो–हाथसे मत जाने दो–। "पुन्य पुन्य"में 'आवृत्ति दीपक' है, (पुन्य) पदकी आवृत्ति है, अर्थ भिन्न है।"　　　　(हरिप्रकाश)

इसी विषयपर सुरतिमिश्रकी-"वार्ता"———

'पुन्य काल' एक ही शब्दमें द्वै भाव कहे —

"पुन्य काल सक्रमन तिय पुन्य उदै को काल।
जिहि की पिय कै लालसा लक्यौ करत दुति माल॥"

(अमरचन्द्रिका)



अङ्कुरित-यौवना मुग्धा-वर्णन

१६

लाल। अलौकिक लरकई लखि लखि सखो सिहांति।
आज काल्हि में देखियत उर उकसौंहीं भांति॥

अर्थ— नायकसे सखीका वचन—

हे लाल! (अलौकिक लरकई)—(उसका) लोकोत्तर-दुनियासे निराला, असाधारण-लडकपन, (लखि लखि, सखी सिहाँति †)—देख देखकर सखियां प्रसन्न होती हैं। या परस्पर सराहती हैं—प्रशंसा करती हैं। (आजकाल्हिमें उर, उकसौंहीं भांति, देखियत)—आज कल (उसकी) छाती, उकसी हुईसी, उभरी हुईसी—उठी हुईसी—दीखती है।

इसकी और अधिक व्याख्या क्या की जाय! वर्णनीय विषय (वस्तु) स्वयं अङ्कुरित है, कुछ कुछ ऊपरको उभरा हुआ है, जरा ध्यानसे देखनेपर साफ दीख जायगा!

---

† सिहाँति—बनारसके आस पासकी पूर्वीहिन्दीमें 'सिहाना' ईर्ष्याके अर्थमें बोला जाता है, इसलिये कोई 'सिहाँति'का अर्थ ईर्ष्या करना—करते हैं। —कोई 'सिहाँति' को 'स्पृहयति' का अपभ्रंश मानकर इसका अर्थ-स्पृहा स्पर्धा-करना कहते हैं।

परन्तु ब्रजभाषाके अहले-जबान 'सिहाँति'का ईर्ष्या अर्थ किसी प्रकार स्वीकार नहीं करसकते। यह शब्द अबतक ब्रजभाषा-भाषियोंमें प्रसन्न होनेके अर्थमेंही व्यवहृत है। सतसईके प्राचीन टीकाकार लल्लूलालजी आदिने भी इसका यही अर्थ(प्रसन्न होना) किया है, और फिर इस दोहेमें प्रसङ्गानुसार भी 'ईर्ष्या' को अवकाश नहीं—सखी,सखीकी उठती जवानी देखकर प्रसन्न होंगी, खुशीसे फूलेंगी, या सपत्नीके समान ईर्ष्यासे घुटेंगी!

"लोकोक्ति" अलङ्कार है। पूर्वार्द्ध में 'लकार' की आवृत्तिसे 'वृत्यनुप्रास' भी स्पष्ट है। अनवरचन्द्रिका, तथा प्रताप चन्द्रिकाने यहा "उत्प्रेक्षालङ्कार" (?) माना है।

"लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।
सहस्व कतिचिन्मासान् मीलयित्वा विलोचने॥" (कुवलयानन्द)

जहाँ किसी लोकोक्ति(कहावत को पद्यमें जड दिया जाय, वह लोकोक्ति' अलकार है। जैसे उक्त सस्कृत पद्यके उत्तरार्ध मे "आँखें मीचकर दो एक महीने काटदो" यहा आँख मीचकर कहावतहै। और प्रकृत दोहेमें 'आजकलमें लोकोक्ति है।

नवयौवना मुग्धा-वर्णन

२०

अपने अंगके जानि कै जोवन-नृपति प्रवीन।
स्तन* मन नयन नितम्बको बड़ौ इजाफा कीन॥

अर्थ — सखी 'नवयौवन-भूषिता' नायिकाकी प्रशंसा नायकसे करती है।

—(प्रवीन जोवन-नृपति)—परम चतुर यौवनरूप राजाने, (अपने अंगके जानि, कै†)— अपने पक्षके समझकर,

---

* कई पुस्तकोंमें 'स्तन'की जगह "तन" पाठ है। यथास्थित 'स्तन' शब्दके प्रयोगको कुछ लोग 'कर्णकटु' कहते हैं। उन्हें 'थन'में माधुर्य्य प्रतीत हो तो उसका उपयोग करें। प्राचीन प्राकृतमें (थण) स्तनमात्रके लिये और आजकल गाय, भैंस, बकरी आदिके स्तनमें (थन) व्यवहृत भी है। पर 'स्तन'के अर्थमें 'तन'का प्रयोग और वह भी 'मन'के साथ, सारे शरीरपर अधिकार कर लेता है।

† "कै" यहाँ पृथक् पद, उत्प्रेक्षावाचक "किधौ"का पर्य्याय है।

मानो (स्तन, मन, नयन, नितम्ब को, बडी इजाफा, कीन)—कुच, मन, नेत्र और नितम्बका बहुत इजाफा कर दिया, इन्हें बहुत तरक्की दे दी। इनके पदकी, मर्यादासे अधिक वृद्धि कर दी—इन्हें हद्से बहुत आगे बढा दिया।

जब कोई 'प्रवीण'—स्वपक्ष परपक्षको पहचानने वाला और गुणज्ञ—राजा अधिकारारूढ होता है, तो अपने तरफदार और सहायक अधिकारियोंकी यथेष्ट पदवृद्धि करता है। उनमेंसे किसीको मन्त्री, किसीको दीवान, किसीको सेनापतिका पद देकर अपनी कृतज्ञता और गुणग्राहकताका परिचय देता है।

यो यहा यौवनरूप राजाने 'बाला'के 'अङ्गदेश'पर अधिकार पाकर मानो नेत्रादि अपने सहायकोंकी पदवृद्धि की है—साधारण वृद्धि नहीं, "बड़ा इज़ाफा" किया है— मर्यादासे अधिक उन्नतिका पद दिया है। स्तन—जो अबतक बेर, आँवलेके बराबर संकुचित दशा और गुमनामीकी हालतमें थे, वे अब 'मत्तेभकुम्भ' और 'कनकाचल' की समताको पहुचेंगे। मन—जो अज्ञातदशामें हृदयकी छोटीसी कुटियाके कोनेमें बन्द दिन काट रहा था। अब नाना प्रकारकी इच्छाओं और विविध संकल्पोंके मैदानमें मनोरथके घोड़े दौड़ाता फिरेगा, उसका अधिकार इतना बढ जायगा कि एक क्षणके लिये उसे अवकाश न मिलेगा, मिनटभर निचला न बैठ सकेगा।

नयन तो यौवननृपतिका मुख्य अङ्ग है। सबसे पहले श्रीमान् महाराजाधिराज यौवनदेवके दर्शन इसी 'झरोखा दर्शन'के द्वारा होते हैं, वह तो यौवननृपतिका प्रधान सेनापति ठहरा। फिर

उसकी श्रीवृद्धिका क्या ठिकाना है ! निस्सीम अधिकार वृद्धिके साथ लज्जा, चञ्चलता, कटाक्ष, इत्यादि अमोघ अस्त्र भी उसे इनाममें मिले हैं, जिनके सहारे वह एक दि त्रिभुवनविजयीका पद पायगा !

रहा नितम्ब, सो यौवन-नृपतिका स्वर्णपीठासन (सोने की चौरस चौकी) और मन्मथके रथको चलानेवाला "चक्र वही तो होगा !

'नयन'के सम्बन्धमें 'इजाफे'—(वृद्धि)का अर्थ आकार वृद्धि नहीं,—प्रत्युत यौवनके सम्पर्कसे उनमें सरसता, चञ्च लता,कटाक्षविक्षेप इत्यादि शोभावृद्धि समझना चाहिये। क्योंकि "जन्मके पीछे पहलेही वर्षमें आँखकी जो वृद्धि होनी होती है हो चुकती है। एक वर्षके बाद फिर आंख नहीं बढती" ऐसा डाक्टर मानते हैं। नेत्र आकारमें 'कभी नहीं बढते' ऐसा सुश्रुतमें लिखा है-

"दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदाचन ।
ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥"

(सुश्रुत शारीरस्थान)

—अर्थात् मनुष्योंकी दृष्टि और रोमकूप कभी नहीं बढते—दृष्टि और रोमकूपोंका आकार निश्चित और निश्चल है— यह धन्वन्तरिजीका मत है।

कोई 'दृष्टि'का अर्थ 'आंखकी पुतली' करते हैं—कहते हैं कि पुतली नहीं बढती, बाकी आंख बढती है। यह पिछला पक्ष ठीक हो तो 'नयनके इजाफे'का अर्थ—'आंखकी आकारवृद्धि'— संगत हो सकता है। पर पुतली तो अक्सर नेत्ररोगमें फैलकर बढ जाती है। खैर जो कुछ हो, जवानीमें आंखकी आकार वृद्धि चाहे होती हो या न होती हो, पर उसकी शोभा-वृद्धिमें तो सन्देह नहीं !

इस दोहेका अनुवाद 'यशवन्तयशोभूषण'में 'प्रत्यनीक' लङ्कारके उदाहरणमें यों है—

" प्राजो यौवन-भूपाल स्वागवुद्धया तनागने !
स्तनौ नेत्रे नितम्बे च निर्धयति सादरम् ॥"

*　　　*　　　*

इस दोहेमें 'अमरचन्द्रिका' तथा 'हरिप्रकाश'के मतमें हेतूत्प्रेक्षा'और 'रसचन्द्रिका'के मतसे "फलोत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

'यौवनावस्थामें स्तनादि अङ्गोंकी स्वभावसिद्ध वृद्धिमें "मानो अपने अङ्ग (पक्ष)के जानकर"–इस अहेतुको हेतु मान लिया गया है। और वृद्धिके 'आस्पद' कुचादि हैं, इसलिये 'सिद्धास्पदा' भी है।

—फलोत्प्रेक्षा' भी इसलिये कह सकते हैं कि स्तनादिका बढना यौवननृपतिके अङ्ग (पक्ष) होनेका, फल नहीं है, स्वभावसिद्ध है, पर अफलमें फलकी कल्पना कर ली गयी।

—"काव्यलिङ्ग" भी है। स्तनादिकी वृद्धि, यौवन नृपतिके अङ्ग होनेकी युक्तिसे दृढ की गयी है।

'जोबन नृपति में "रूपक" है। और "तुल्ययोगिता" भी है, क्योंकि स्तन, मन आदि सबका एक धर्म—"बढौ इजाफा कीन" वर्णित है।



२१

नव नागरि-तन-मुलक लहि जोवन आमिल जौर।
घटि वढिते वढि घटि रकम करी औरकी और।

अर्थ—सखी नायिकाके नवयौवनकी प्रशंसा करती है:—(नव, नागरि तन-मुल्क, लहि)—नवीन नागरी—प्रवीण नायिकाके—शरीररूप देशको पाकर—उसपर दखल और कब्ज़ा करके—(जोवन आमिल जौर)—यौवनरूप हाकिमने जौर*—ज़ुल्म या बलात्कारसे (रकम, वढिते घटि (करी) घटि (ते) वढि (करी))—जो रकम (वस्तु) वढी हुई थी वह घटादी—कम करदी—जो घटी हुई थी, वह वढा दी (और की और करी)—इस प्रकार कुछ को कुछ कर दी

* जौर—शब्दका अर्थ फारसीमें ज़ुल्म—'अन्याय'—अत्याचार है। यह 'भाववाचक' शब्द है। किसीने हिन्दीमें इसे 'विशेष्य' और 'विशेषण'वाचक समझकर 'जालिम-पापी' अर्थ किया है, और किसीने 'जोर समझकर 'जोरावर—जबरदस्त' अर्थ किया है। पर यह दोनों पक्ष ठीक नहीं। 'जोर' बल- ताकत)—वाचक शब्द और है, "जौर" जो ज़ुल्मका पर्याय है, और है। 'जौर ज़ुल्म' बोला जाता है। यहाँ यही- जौर- चाहिये, 'जोर' नहीं। क्योंकि उत्तरार्द्धमें "और" है, "ओर" नहीं। किसीने 'जोर'के साथ जोड़ी मिलानेको "और"का भी 'ओर' कर दिया है।

'इजाफा' 'रकम' 'आमिल' 'जौर'—इत्यादि शब्दोंके यथास्थान प्रयोगसे जाना जाता है कि विहारीलालजीको फारसीमें भी अच्छा उस्तादाना दखल था।

जब किसी देशपर नवीन राजा अधिकार पाता है, तो उसके अत्याचारी हाकिम, बलात्कारपूर्वक देशदशामें परिवर्तन करके कुछका कुछ कर देते हैं। 'भूमि'का नये सिरसे बन्दोबस्त होता है। कहीं का कर (लगान) बढाया जाता है, कहींका कम किया जाता है— कहीं 'इज़ाफा' होता है, कहीं 'तखफीफ' होती है। पहले अधिकारियोंमेंसे कोई निर्वासित कर दिया जाता है, कोई मार दिया जाता है। उनमेंसे—(पहले अधिकारियोंमेंसे) जो नवीन परिवर्त्तनके अनुकूल पक्षमें होते हैं, वे यथेष्ट और आशातीत उन्नति पा जाते हैं। ऐसे परिवर्त्तनका देशके आचार विचार और व्यवहारपर भी अवश्य प्रभाव (असर) पडता है।

— यहाँ, 'बाला' के 'शरीर-देशपर' 'काम-नृपति' का अधिकार हुआ है। उसका (काम बादशाहका) सूबेदार (गवर्नर) 'जोबनखां' प्रबन्ध और शासनके लिये आया है। उसने आते ही एकदम 'अङ्ग' की काया पलट कर दी। जिस (जोबन) का आश्रय पाकर तुच्छ प्राणी तक अभिमानके मदमें चूर होकर कुछका कुछ कर बैठता है। फिर साक्षात् उसके जुल्मका क्या ठिकाना है। उसने पहले ही आक्रमणमें पहले अधिकारी "शैशव कुमार" को सदाके लिये शान्त कर दिया। कमर—(कटि) बेचारीका नामनिशान मिटाकर काम ही तमाम कर दिया। जिनसे नवीन राज्यस्थापनामें सहायता मिली थी—जिन्होंने नवीन परिवर्त्तनका खुले दिलसे स्वागत किया था— उन स्तन, नितम्ब, केश, नेत्र और चातुर्यादिको यथेष्ट उन्नति दे दी।

—गति, भाषण, आचार, विचार, देखना, सुनना, आदि सब व्यवहारोंमें बड़ा परिवर्तन हो गया। सचमुच, जालिम

जोवनने कुछका कुछ कर दिया ! 'वाला' की हालत ही बदल दी ! काया ही पलट दी ।

दोहेमें "समस्त वस्तु विषय (सविषय) सावयव-'रूपक" और "छेकानुप्रास" अलङ्कार है ।



२२

ज्यौंज्यौं जोवन-जेठदिन कुच-मिति अतिअधिकाति ।
त्यौंत्यौं छनछन कटि-छपा छीन परति नित जाति ॥

लक्षितयौवना नायिकाकी सखीका कथन नायकसे या सखीसे —

अर्थ — (जोवन-जेठदिन) यौवनरूप जेठ— ज्येष्ठमासके दिनमें (ज्यौं ज्यौं, कुच-मिति, अति अधिकाति,) जैसे जैसे कुच-मिति=कुचरूप दिनमान, अत्यन्त बढता है (त्यौं त्यौं नित कटि-छपा, छिनछिन, छीन, परति जाति)= वैसे वैसे, नित्यप्रति, कटि-रूप क्षपा-(रात्रि)-क्षण क्षणमें क्षीण होती जाती है !

क्या सुन्दर रूपक है ! जेठमें दिनमान प्रतिदिन बढता है और अन्य महीनोंकी अपेक्षा बहुत बढता है । वह तीस घडीसे आगे निकलकर बढ़ता बढता बढ़नेकी अन्तिम सीमा तक पहुच जाता है । और रात घटते घटते, नाममात्रको-कुछ योंही-रह जाती है ।

—यौवनमें 'कुच' और 'कटि'की भी ठीक ऐसी ही दशा होती है ।'

यौवन की गर्मी (मदनोष्मा) और ज्येष्ठ की कड़कड़ाती धूपके सादृश्यसे भी यह 'रूपक' घटनानुरूप है। सर्वथा "ताद्रूप्य" है। †

अलंकार—'रूपक'। 'छकार'से वृत्त्यनुप्रास। और किसीके मतमें 'दीपक' भी।



२३

बाढ़त तो उर उरजभर भरतरुनई विकास।
बोझनि सौतनिके हिये आवत रूँधि उसास॥

'यौवन-भारावनता' नायिकासे सखी कहती है—

अर्थ—(भर तरुनई विकास)= (तेरी) तरुणताका भार (आधिक्य) और विकास है, अथवा भरजवानी=पूर्णतारुण्यका विकास है, जवानीकी बहार खिल रही है। तथा, (तो उर, उरजभर, बाढ़त)= तेरी छातीपर कुचोंका भार बढ़ रहा है। और, (बोझनि, सौतनिके हिये, उसास, रूँधि आवत)=बोझसे सपत्नीके हृदयसे साँस, रुक कर-घुट कर— आता है।

---

† जवानीके गरम मौसममें इश्ककी लूएँ चलनेका वर्णन उर्दूके महाकवि 'अकबर'ने भी अच्छे ढंगसे किया है—

'खुली जो आरा जवानीमें इश्क आ पहुँचा,
जो गरमियोंमें खुलें दर तो क्यों न लू आए!"

कुचोंका भारी भार, तो तेरी छातीपर पडा है, जो बराबर बढ़ रहा है, और उसके बोझसे साँस सपत्नीका घुट घुटकर निकल रहा है! जिसपर भार पड़े उसीको रुककर सास भी आना चाहिये! यहाँ, भार कही और बोझ कही! छातीपर भार कोई उठाए हुए है और उसके बोझसे दम किसीका घुट रहा है! कैसी बेमेल बात है! क्या अच्छी "असङ्गति" है!

—नायिकाके वर्धमान सौन्दर्य्यको देखकर, बढ़ी हुई ईर्ष्यासे सपत्नीका सास घुटा जा रहा है! यह विचित्र भाव!

कारण—'भार उठाना'—कही है, कार्य—बोझसे दबकर 'दम घुटना'—दूसरी जगह है। इसलिये "असङ्गति" है। पूर्वार्द्धमें 'भार' और उत्तरार्द्धमें 'बोझ' है, दोनोंका अर्थ एक है। इस कारण "अर्थावृत्ति दीपक" भी है।

यहाँ "भार" और "बोझ"के अर्थमें भेद है। पर आपाततः 'भार' 'बोझ'—पर्य्यायसे एक—'पुनरुक्तवत्' प्रतीत होते हैं, इसलिये किसीकी सम्मतिमें—"पुनरुक्तवदाभास" भी है। "भार"का अर्थ 'भारवद्वस्तु'। और "बोझ"=गुरुत्व—भारवद्वस्तुका दबाव। जैसे—"भारके बोझसे देवदत्त दबा जाता है।" ऐसा बोला जाता है।

——#——

ज्ञात-यौवना-मुग्धा-वर्णन

२४

भावक उभरौहौं भयौ कछुक पर्यौ भरु आय ।
सीपहराके मिस हियौ निसि दिन हेरत जाय ॥

अर्थ —सखीका वचन नायकसे —

(भावक, उभरौहौं भयौ,)= एक तरहसे–जरासा, उभार सा (अर्थात् कुचोंका) हुआ है, ठीक उभार नहीं, उभार होनेके समान कुछ हुआ है। (कछुक भरु, आय पर्यौ)=(उसका) कुछ एक– थोडासा, भार (छातीपर) आ पडा है। सो (सीपहराके मिस, हियौ हेरत निसिदिन जाय)= सीपके हारको (देखनेके) बहानेसे, छाती देखते ही रात दिन बीतता है। जब देखो, तब उसे ही देख रही है, और कुछ काम ही नहीं !

—अभी यों ही जरा एक उभार सा हुआ है, कुचोंने कुछ कुछ कोर निकाली है, उठनेको जरा सिर उभारा है, इसीका थोडासा भार है। जो उभारकी याद दिलाता रहता है। सो गर्दन झुकाए उस उभारकी जगहको देखनेमें ही दिनरात कटता है ! कोई पूछे, तो छातीपर पडे सीपके–(या सीपके मोतियोंके–) 'हार' देखनेका बहाना है !

"क्यों री ! इस जरासे उभारपर इतनी खुर्दबीनी ! हरवक्त उसीपर नजर है—"

"वाह ! तुम क्या समझती हो ! खूब, मैं तो अपने इस 'हार' को देख रही हूं !—"

बहाना भी बहुत अच्छा—' पर्यायोक्ति'— भी बडी बढिया.—

"छलकर साधिय इष्ट जहँ "पर्यायोक्ति" विशिष्ट ।
सीपहराके मिस हियौं ल्यावति सुसाधत इष्ट ॥" (अमरचन्द्रिका)

'भावक' और "कछुक" दोनोंका अर्थ एक है, इससे 'अर्था-वृत्ति दीपक' भी अपना मन्द प्रकाश डाल रहा है।



नवोढा मुग्धा-वर्णन

२५

देह दुलहिया की बढ़ै ज्यौं ज्यौं जोबन जाति।
त्यौं त्यौं लखि सौतैं सबै बदन मलिनदुति होति॥

अर्थ — सखीका वचन सखीसे या नायकसे —

(दुलहिया की देह)—दुलहिन—नववधूकी देहमें (ज्यौं ज्यौं जोबन जोति बढै)— जैसे जैसे जोबनकी ज्योति (चमक) बढती है, या जोबन और जोति बढती है, (त्यौं त्यौं लखि सबै सौतैं)— तैसे तैसे, देखकर सब सौतें (बदन, मलिन दुति होति) मुखके विषयमें मलिनकान्तिवाली होती जाती हैं। अथवा— हे सखि! तू देख, सब सौतों के मुख मैले होते जाते हैं।

—नववधूकी दिन दिन जगमगाती जोबन जोतिके सामने सब सपत्नियोंके मुखकी कान्ति मलिन पडती जाती है, चेहरे उतरते जाते हैं, रँग उडता जाता है।

यहाँ 'उल्लासालङ्कार' विस्पष्ट चमक रहा है —

"एकस्य गुणदोषाभ्या-'मुल्लासो' ऽन्यस्य तौ यदि ॥" (कुवलयानन्द)

"गुन औगुन जब एकतें, और धरे 'उलास' ।" (भाषाभूषण)

—जहा एकके गुणसे गुण, या दोपसे दोपको, अथवा दोपसे गुण या गुणसे दोपको, दूसरा धारण करे, वहाँ 'उल्लास' होता है। यहा दुलहीके 'सौन्दर्य्यप्रकाश'—गुणसे सौतोंमें 'मुखमालिन्य'—दोप, हुआ। तथा— अकारण 'जोवन-जोति'से मलिनदुति–कार्य'की उत्पत्ति हुई, इसलिये चौथी विभावना, या ज्योतीरूप विरुद्ध कारणसे मालिन्यरूप कार्य वर्णन किया। इसलिये पाचवीं विभावना भी हो सकती है।

'अनवरचन्द्रिका' तथा 'प्रतापचन्द्रिका' में इसपर 'विभावनालङ्कार' लिखकर लिखा है कि—

["रूपकातिशयोक्ति"]

—"जो रूपकातिशयोक्ति, कीजै तो विशेष चमत्कार होइ"—पर यहा 'रूपकातिशयोक्ति' कैसे कीजै? यह किसीने नहीं लिखा। 'प्रतापचन्द्रिका'ने सिर्फ एक यह दोहा लिख दिया है, लक्षणसमन्वय नहीं किया—

"उपमान कि उपमेयतें उपमान कि उपमेय।
ग्रहन करो तहा रूपक-अतिशयोक्ति लखि लेय॥"

'रूपकातिशयोक्ति'का लक्षण और लक्ष्य, कुवलयानन्दके अनुसार यह है —

"रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः।
पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान् निःसरन्ति शिताः शराः॥"

—अर्थात् जहा उपमेयकी प्रतीति उपमानहीके द्वारा करायी जाय—केवल उपमानवाचक शब्दहीका प्रयोग हो, "उपमेय' स्ववाचक शब्दसे उपात्त न हो— वह उपमानके अन्दर तद्रूप होकर दवा रहे,—जहा—उपमानसे उपमेयमें अभरन्त तादात्म्यका आरोप किया जाय—वह 'रूपकातिशयोक्ति' है।

जैसे— "देखो! दो नील-कमलोंसे तीक्ष्ण वाण निकल रहे हैं!" — यहा (उपमानवाचक) नीलोत्पलसे (उपमेय) नेत्रका और उपमान— 'शर' शब्दसे उपमेय— कटाक्षका ग्रहण है। इसे ही यदि यों कह दिया जाय कि— नेत्ररूप नीलोत्पलसे कटाक्षरूप वाण निकल रहे हैं! तो 'रूपक' है। इसी वाक्यमेंसे 'नेत्र' और 'कटाक्ष' इन (उपमेयों) का साक्षात् इनके वाचक शब्दोंसे कथन न करके केवल उपमानवाचक —(नीलोत्पल) और 'वाण' शब्दोंसे ही उनका बोध कराया जाय तो वह 'रूपकातिशयोक्ति' है।

भाषाभूषणमें सीधा लक्षण यह है :—

"रूपक—अतिशयोक्ति तहँ, जहँ केवल उपमान।
कनकलतापर चन्द्रमा धरे धनुष द्वै वान॥"

यहा—(भाषाभूषणके उदाहरणमें) केवल उपमानवाचक शब्द हैं, उनसे ही उपमेयोंका बोध होता है। जैसे—'कनक लता'से नायिकाका, 'चन्द्रमा'से मुखका, 'धनुष'से भौंहोंका, और 'द्वै वान'से नेत्रोंका—(तीरेनजरका)—बोध होता है।

"रूपकातिशयोक्ति" का यह लक्षण सर्वसम्मत है कि जहा उपमेयको तद्वाचक शब्दसे न कहकर उपमानवाचक शब्दसे ही उसका बोध कराया जाय, वह "रूपकातिशयोक्ति" है।

'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण'में 'रूपकातिशयोक्ति,' 'अतिशयोक्ति'का प्रथम भेद है। वहा "रूपकातिशयोक्ति" यह पृथक् नामनिर्देश नहीं है।

—परन्तु, 'अनवरचन्द्रिका' यह कहकर कि "जो रूपकातिशयोक्ति कीजे तो विशेष चमत्कार होइ"— और 'प्रतापचन्द्रिका' रूपकातिशयोक्तिका एक 'अस्पष्ट' सा लक्षण लिखकर, 'रूपका- [illegible]' के एक दूसरे भेदकी कल्पना करना चाहते हैं! यहा

यदि रूपकातिशयोक्ति मान ली जाय तो 'उपमेय' वाचक शब्दसे 'उपमान' का बोध कराना होगा। 'प्रतापचन्द्रिका' के उक्त दोहेका भी यही भाव मालूम होता है कि जहां उपमानसे, उपमेयका या उपमेयसे उपमानका ग्रहण कराया जाय वह "रूपकातिशयोक्ति" है। —

—इस दशामें "जोबन जोति" (उपमेय) से (उपमान)—सूर्यका प्रकाश, (उपमेय)—सौतोंके मुखसे (उपमान)—कुमुदावलिका अर्थ समझना चाहिये। सूर्यके प्रकाशमें कुमुदावलि मुकड़ जाती है। या 'जोति'का अर्थ ज्योत्स्ना—चांदनी—लें तो सपत्नीके वदन (मुख) को कमल समझें। चन्द्रोदयमें कमल मलिनमुख हो जाते हैं। अभिप्राय यह कि नायिकाके यौवनसूर्यके प्रकाशमें, सपत्नी-कुमुदिनियाँ हतप्रभ हो गयीं। या नायिकाके यौवन-चन्द्रकी चांदनीमें सपत्नियोंके-मुख-कमल निच्छाय होकर बन्द हो गये। मैले हो गये—प्रकाशहीन हो गये।

—इस दशामें—रूपकातिशयोक्ति मानकर इसप्रकार अर्थ करनेमें—चमत्कार तो बेशक विशेष हो गया, परन्तु उपमेयवाचक शब्दसे उपमानका बोध कराया जाकर, "रूपकातिशयोक्ति" होती भी है या नहीं, यही विचारणीय है। क्योंकि प्रसिद्ध साहित्य-ग्रन्थोंमें रूपकातिशयोक्तिके जो लक्ष्य लक्षण मिलते हैं, उनमें 'उपमान' ही 'उपमेय'—वाचक शब्दको निगलकर, अर्थमें उसे उगलता है। यह देखा जाता है—

"निगीर्याध्यवसान तु प्रकृतस्य परेण यत् ॥"

उपमानान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसान सैका—

—(अतिशयोक्ति)"

(काव्यप्रकाश)

—परेण—उपमानेन, निगीर्य—कवलीकृत्य, (पृथगनिर्दिश्य) यत् प्रकृतस्य—उपमेयस्य, अध्यवसानम्—आहार्याभेदनिश्चय , सा एका (प्रथमा) अतिशयोक्तिर्विज्ञेया ।" (काव्यप्रकाशटीका)

यही कुवलयानन्दकी "रूपकातिशयोक्ति" है। अस्तु।

—यदि इस दोहेमें अनवरचन्द्रिका और प्रतापचन्द्रिकाकी बात मानकर 'रूपकातिशयोक्ति' मानें तो 'उपमेय'से 'उपमान'का बोध कराना होगा। जो काव्यप्रकाशादिके इन लक्षणोंसे विरुद्ध है।



२६

मानहु मुख दिखरावनो दुलहिनि करि अनुराग।
सास सदन मन ललन हू सौतिनि दियो सुहाग॥

अर्थ — सखीकी उक्ति सखीसे। नवोढा नयिकाका रूप, गुण और चातुर्य व्यङ्गय।

(दुलहिनि, अनुराग करि)=दुलहनमें प्रीति करके, (मुख-दिखरावनो)— मुहदिखाईकी रस्ममें, (मानहु) मानो (उसे) (सास सदन)— सासने घर दिया, (मन ललन)— पतिने मन दिया,(सौतिन हू सुहाग दियो)— सपत्नीने भी सुहाग दे दिया।

जब नयी बहू घर आती है, तो सास, ससुर आदि घरके स्त्री पुरुष उसका मुह देखकर उसे कुछ देते हैं। यह 'मुंह दिखाई-की रस्म' कहलाती है। जैसी देवता वैसी ही उसकी पूजा ! जैसा अनुराग वैसाही प्रणयोपहार। प्रदर्शनीमें जो चीज़ सबसे अधिक

सुन्दर और उत्कृष्ट जॅचती है, उसके लिये इनाम भी वैसाही सबसे बढ़िया मिलता है। इस लोकोत्तर-सौन्दर्य्य-शालिनी नवोढा नायिकाका मुख-चन्द्र असाधारण 'अर्घ'—चाहता है। इसके अनुपम रूप, गुण और चातुर्य्यका पुरस्कार रुपये या अशरफी नहीं हो सकते। इसलिये मुखदेखनेवालोंमें जो चीज जिसके पास सबसे अधिक प्यारी और कीमती थी, वही उसने भेंट करदी। सासने धन धान्य आदिसे भरपूर घर उसके सपुर्द करदिया! कोई सास, चलते हाथ पाँव अपनी खुशीसे बहूको घर सौंप दे, इससे अधिक असामान्य 'आत्मत्याग' उस (सास) के लिये और क्या होगा! प्यारे 'ललन' (पति) के पास मुहदिखाईमें देनेके लिये 'मन'से बढकर और क्या पदार्थ हो सकता है! सो वही उसने भेंट कर दिया! 'सौत' बेचारीके पास सिर्फ 'सुहाग' ही एक चीज थी, जिसे वह अपना कह सकती थी। घरपर या घरके किसी पदार्थ विशेष पर तो सासकी विद्यमानतामें उसका कुछ अधिकार ही न था। 'शरीर' और 'मन' भी उसके नहीं थे, उनपर पतिका आधिपत्य था। केवल 'सुहाग'—रत्न जो उसे प्राणाधिक प्रिय था, उसके पास था, वही 'मुह दिखरावनी' में उसने इस नयी देवतापर चढा दिया! इन्साफसे देखा जाय तो जो सम्मान नयी बहूका इस सपत्नीने किया वह इनमेंसे किसीने भी नहीं किया। 'सास' घर देकर सारे झंझटोंसे छूट गयी, 'ललन' साहबको तो इस सौदेमें दुगुना लाभ हुआ। एक 'मन' देकर तन मन धन सब कुछ लेलिया! पर सपत्नी गरीबने तो सौभाग्य-दानके स्वरूपमें मानो अपना सर्वस्व ही दे डाला, अपने आपको ही दुलहिनपर निछावर कर दिया!

—दोहेमें जो "करि अनुराग" पद है—उसपर प्राय टीकाकारोंने शङ्कासमाधान करके कुछका कुछ अर्थ किया है। यह

शंका उठाकर कि—"सपती" 'दुलहिन'से क्यों अनुराग करेगी?- इसका यह उत्तर दिया गया है कि 'करि अनुराग'का अन्वय 'सास' और 'ललन'के ही साथ है, सपत्नीके साथ नहीं। 'ललन' के आगेका 'हू'पद अनुरागके अधिकारकी- अन्वयकी- अवधि पूरी कर देता है। 'रसचन्द्रिका'में लिखा है कि—

—"यदि 'हू'न होता तो—"सौतौका किया अनुराग भी लगता, इसीलिये यहा विहारीने 'हू'पद रक्खा है। और कोई यों भी कहते हैं कि यहा 'हू'का अर्थ अनुरागकी हद (सीमा) है।"—

'प्रतापचन्द्रिका'में इस प्रकार अर्थ बैठाया है —

—"सास और ललनका अनुराग देखि सौतिन हूँ, सुहाग दीनो। हमारो प्रानप्यारो या के (दुलहिनके) वस होयगो, या तें।"—

'हरिप्रकाश'मे दोहेको इस प्रकार लगाया है—

—"मानो (मानहु)का अर्थ 'तुम जानो' (नायिकाका सौन्दर्य व्यङ्ग्य)ऐसी सुन्दरी नायिका है कि नायक आसक्त होकर, घरका कार्य इसे ही देगा, "दियो" का अर्थ यहा लक्षणा करके 'गया' जानिए, मदन सासमे गया, मन, ललनमे गया, और सुहाग सौतसे गया।"—

हरि कविके मतमें यही प्रधान अर्थ है, और "पर्य्यायोक्ति" अलङ्कार है। दूसरा अर्थ उन्होंने उत्प्रेक्षापरक यह भी लिया है —

—" किंवा, " मानो " मे उत्प्रेक्षा जानिए, और तरहको और तरहकी सम्भावना कीजिए, मानो, "नायिकाने मुँह दिखरावनीमें सासको मदन दिया है, मन ललनको दिया है, (सौति न दियो सुहाग)- परन्तु सौत को सुहाग दिया " ॥

—यह सर्वथा उलटी कल्पना भी केवल "अनुराग"का अन्वय सौतसे दूर करनेके लिये ही की गयी मालूम होती है। पर 'मुंह-दिखाई'में जिसका मुंह देखा जाता है, वह तो किसीको कुछ नहीं दिया करती, उलटा उसीको देखने वालोंकी ओरसे पारितोषिक दिया जाया करता है। यदि 'उत्प्रेक्षा' के बलसे ऐसी विपरीत कल्पना ठीक हो सकती है तो फिर 'अनुराग'का अन्वय सौतके साथ करनेमें क्या काठिन्य है।—"मानो नवोढाके अलौकिक रूप, गुणपर मुग्ध होकर सपत्नीने भी अपना सुहाग उसे दे दिया।—" 'हु'का सम्बन्ध "सौतिन"के साथ रहे तो और अच्छा हो। इसीमें चमत्कार है। स्नेहशील सास और 'ललन'ने जो प्रीति-दायमें नवोढाको घर और मन दिया सो ठीक ही किया (यह तो कोई इतने आश्चर्यकी बात नहीं।) पर सौतने भी खुशीसे सुहाग उसकी नजर कर दिया। यही तो खास बात है। शत्रु भी जिससे ऐसा स्नेह करे फिर उसको सौभाग्यशालितामें क्या सन्देह है।

—इसी अर्थमें उत्प्रेक्षा अधिक चमत्कारिणी है—

इति निमीलितलोचनं विचारयन्तु साहित्यमर्मज्ञा सहृदयधौरेया।

अलंकार—"सिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा"। 'दियौ' इस एक क्रियासे "तुल्ययोगिता" भी है। "अनवरचन्द्रिका"के मतमें 'उत्प्रेक्षा' और 'पर्यायोक्ति' अलंकारकी 'संसृष्टि' है।

कुछ इसी भावका एक उर्दू कविका यह शेर है —

"हटायी घरमें हमभोर-अनवरम घूंघटको,
दिले-मुश्ताक़ देता हूं मैं तुमको 'रूनुमाई'में।"

महाकवि 'शम्भु' और कविराज 'शकर' महाराजने भी रूप गर्विता नवोढाके मुखसे, उसकी मुख-प्रदर्शनीका—मुहदिखाईका-वर्णन दूसरे ढंगपर घूमधामसे कराया है.—

घनाक्षरी—"आज हो गई थी " शम्भु " न्यौते नन्दगांव, व्रज
सासति वडी हे रूपवती वनितान की,
घेर लीनी तियन तमासो करि मोहि लखैं,
गहि गहि गुलुफ लुनाई तरवान की।
एकै बलि बोल बोल औरनि बतावै, रीझ-
रीझ कुँवराई अरुनाई मोरे पान की.
घूंघट उघारि मुख लखि लखि रहें एकै
एक लगी नापन बडाई अँखियान की ॥"
(महाकवि शम्भु)

रूप-घनाक्षरी— " सासुने बुलाई घर बाहरकी आई-
सो लुगाइनकी भीर मेरो घूंघट उघारै लगी,
एक तिनभैकी तिन [तृण] तोरि तोरि डारै लगी
दूसरी सरैया राई नोनकी उतारै लगी।
'शकर' जिठानी. बारबार कछु वारै लगी
मोद मढी ननदी अटोक टोना टारै लगी,
आली! पर सापिनिसी सौति फुसकारै लगी
हेरि मुख 'हा! कर' निसा[शा] कर निहारै लगी ॥"
(कविराज 'शकर' महाराज

२७

निरखि नवोढा-नारि-तन छुटत लरकई-लेस ।
भौ प्यारौ प्रीतम तियन मानहुँ चलत बिदेस ॥

अर्थ— सखीका वचन सखीसे। नायिका लक्षित-यौवना। शङ्का और ईर्ष्या सञ्चारी भाव व्यङ्ग्य।

(नवोढा नारि तन)—नवोढा नारीके शरीरसे (लरकई-लेस, छुटत निरखि)— लडकपनका लेश—अवशेषांश या (श्लेष) लगाव, छुटता देखकर (तियन, प्रीतम प्यारो भयो)—स्त्रियों (अन्य सपत्नियों) को प्रीतम (ऐसा) प्यारा हुआ, (मानहु बिदेस चलत)— मानो वह परदेशको जा रहा है।

नवोढा नायिकाके शरीरपर लडकपनका लेश (अंश) जो कुछ अब तक बाकी बचा हुआ था, वह भी अब विदा हुआ जा रहा है, यह—(लडकपन) क्या जा रहा है मानो सपत्नियोंका प्रिय पति ही उनसे विदा होकर परदेशको जा रहा है। "इस (नवोढा) के अद्भुत नवयौवन की अमलदारीमें पति हमें क्यों पूछेगा, इससे इसका लडकपन क्या चला मानो पति ही हमारे हाथसे चला।" इस शङ्कासे चिन्तित हो वे पतिको उस प्यारसे देख रही हैं जो प्रियके परदेश जाते समय चिन्ता, शङ्का सहित हृदयमें उमडा करता है। "आगतयौवना" नायिकाकी सपत्नियाँ 'प्रवत्स्यत्पतिका'सी हो रही हैं। बडा ही सुन्दर भाव है।

—नवोढा नायिकाकी हृदयाकर्षक अपूर्व नवयौवनश्री, पतिकी उसमें मानिनी अत्यासक्ति, सपत्नियोंकी शङ्का, ये सब भाव अनूठे ढंगसे इस उक्तिमें व्यञ्जित हैं!

—अलङ्कार हरिकविके मतमें 'चलत है मानो'मे क्रियासे
अन्वय है, इससे असिद्धास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा है। ...
मतसे हेतूत्प्रेक्षा। नकारकी आवृत्तिसे वृत्त्यनुप्रास भी है।

इस दोहेसे मिलती हुई गोवर्धनाचार्य्यकी एक "आर्य्या" है—

"अतिवत्सला सुशीला सेवाचतुरा मनोऽनुकूला च।
अजनि विनीता गृहिणी सपदि सपत्नीरतनोद्भेदे ॥१॥

❀ ❀ ❀

—सपत्नीके स्तनोद्भेद होते ही 'गृहिणी' (पहली घरवाली) अत्यन्त स्नेह करनेवाली, अच्छे स्वभावकी, सेवा करनेमें चतुर, पतिके मनके अनुकूल चलनेवाली और विनम्र हो गयी।

अर्थात् गृहिणी जो पतिके दूसरा विवाह कर लेनेपर क... होकर, मन्दस्नेह, बुरे स्वभावकी, सेवा न करनेवाली, प्रतिकूल बर्ताव रखनेवाली और उद्धत स्वभावकी होगयी थी, उसे सपत्नीके स्तनोद्भेदने सीधा कर दिया।

भाव बिलकुल एक ही है। परन्तु "भौ प्यारे... पीतम लियनि मानो चलत विदेस"—की मनोहारिणी उत्प्रेक्षा... के कारण दोहा 'आर्या'से आगे बढ़ गया है। विहारीने... गोवर्धनाचार्यसे मजमून छीन लिया है।

२८

ढीठौ दै बोलति हँसति प्रौढ विलास अप्रौढ।
त्यौं त्यौं चलत न पिय नयन छकए छकी नवौढ॥

अर्थ—सखीका वचन सखीसे। मुग्धा नायिकाकी मद्य-पानजन्य चेष्टा और नायकका हर्ष सञ्चारी भाव।

(ढीठौ दै बोलति, हँसति)—(ज्यौं ज्यौं) ढिठाई देकर—धृष्टता धारण करके—ढिठाईसे—बोलती है और हँसती है, (अप्रौढ, प्रौढ विलास—(करति))—अप्रौढा (मुग्धा) होकर भी प्रौढाकेसे विलास (लीला) करती है, (क्योंकि), (नवोढ, छकी॥) नवोढा-मस्त हो रही है। (त्यौं त्यौं छकए, पिय नयन,न चलत)—त्यौं त्यौं, उसके विलासालवसे मस्त हुए प्रियके नेत्र नहीं चलते। उसकी लीला देखनेमें मस्त हैं, इधर उधर नहीं हटते, एकटक उसीकी लीला देखनेमें लगे हैं।

छाक—नशा। छकी—नशे में मतवाली मस्त। छकए—मादक पदार्थ या मादक द्रव्य से मस्त हुए। छकना—(मस्त होना)

श्रीलल्लूलालजीने इस दोहेका शीर्षक "विश्रब्ध नवोढ़ा वर्णन" लिखा है और नवोढा को किसी मादक द्रव्यके नशेसे नहीं किन्तु जोबन-रूप नशे से मतवाली बनाकर प्रौढ़ा की सी लीला करवायी है। परन्तु 'छकए' और छकी' पद मादक द्रव्यका ही बोध कराते हैं। इसके अतिरिक्त अप्रौढ़ा नवोढा को विश्रब्ध होनेपर भी जोबनरूपका नशा इतना नहीं चढ सकता कि वह उससे इतनी मस्त होजाय जो लज्जा, शंका आदि अपने मौग्ध्य स्वभावको छोड़कर प्रौढ़ाकीसी लीलाएं दिखाने लगे।

अन्य टीकाकारोंने मादक द्रव्यके सेवनसे ही ऐसा होना सम्भव समझा है। यथा—

"छकी नवोढ़ाको स्वभाववर्णन" (रसचन्द्रिका)।

"नायिका मुग्धा, मद्यपानमें चेष्टा।" (प्रतापचन्द्रिका)

"मादक वस्तु खिवाय कै (खिलाकर) छकाई है, तासों छकी है—मत्त भई है।' (हरिप्रकाश)

—नायकने नवोढाकी लज्जा संकोच दूर करनेके लिये उसे कुछ नशा पिला दिया है। जिससे मस्त होकर वह ऐसी चेष्टा कर रही है जो उसकी दशा (मुग्धात्व)के अनुरूप नहीं है, ढिठाईसे बोलती है, और लज्जा छोडकर हँसती है, प्रौढा नहीं है पर प्रौढा जैसी लीलाएँ दिखला रही है, यह नया तमाशा छोडकर प्रियके नेत्र कहा जा सकते हैं। वे भी तमाशा देखनेमें मस्त हैं! मतवालीकी इस लीलाने प्रियके नेत्रोंको भी मतवाला बना दिया।

अलङ्कार —"स्वभावोक्ति" स्पष्ट है।

'प्रतापचन्द्रिका'में "ढीठ्यौ" क्रियाका हँसने बोलने आदि सबके साथ योग करके 'तुल्ययोगिता' भी मानी है। और विना प्रौढाके प्रौढाकीसी चेष्टा कर रही है, इसलिये "पहली विभाना" भी बतलायी है।



२६

चालेकी बातें चली सुनति सखिनके टोल।
गोयेहू लोयन हँसति विहँसत जात कपोल॥

अर्थ — सखीकी उक्ति सखीसे—

(सखिनके टोल, चली चालेकी बातें सुनति)—सखियोंके समूह (गोष्ठी)में चली (अपने) चाले— (द्विरागमन—गौने)की बातें सुन रही है†। (लोयन) नेत्रोंको (गोये हू हँसति)— छिपाकर भी हँसती है, पर (कपोल विहँसत जात)— कपोल मुसकरा रहे हैं— उनपर हँसीकी झलक

† "छलिताकामा मुग्धा वर्णन"—(लल्लूलालजी)। 'मुदिता मध्या'

आ रही है। त्रपा, हर्ष, सञ्चारी भावसे नायिका—लज्जामदन-मध्यथा 'मध्या' व्यञ्जित है।

सखियोंकी टोलीमें नायिकाके चालेकी चर्चा चल रही है, नायिका भी उसमें एक ओर बैठी सुन रही है, और मनमें प्रसन्न हो रही है। लज्जाके कारण हर्षका प्रकाश प्रकट नहीं करना चाहती, आखोंके दर्पणसे सखिया उसकी (हर्षकी) झलक न पा जायें, इसलिये आखें सामने नहीं करती, आखें चुरा रही है, तौ भी कपोलोंपर मुस्कराहट आ रही है। आखोंमें छिपायी तो कपोलोपर हँसीकी झलक आयी!

अलकार— "स्वभावोक्ति"। सखियोंका टोल, और गोये लोचन, इन दो प्रतिबन्धकोंके रहते भी, हँसीको झलक आयी, इसमे "तीसरी विभावना"। 'हँसति विहँसत'से 'अर्थावृत्ति दीपक"।

लज्जाप्रियामध्या-वर्णन

३०

लखि दौरत पिय-कर-कटक वास छुडावन काज।
बरुनी-बन द्दग-गढनि में रही गुढौ करि लाज॥

अर्थ — सखीकी उक्ति सखीसे।

—(पिय कर-कटक)— प्रियके हाथरूपी कटक—लश्करको (वास छुडावन काज)— वास— घररूप निवासस्थान-को छुडानेके लिये, (दौरत लखि)— दौडता हुआ—अपनी ओर आता हुआ देखकर। (बरुनी-बन)— बरौनी—(पक्ष्म-

१—'कर' २—'बरुनी' ३—'दृग' आदि उपमेय। और 'कटक' 'घन' 'गढ' आदि उपमान। 'बास छुडाना' 'अङ्ग'-सहित, सब साथ मौजूद हैं, सो "समस्त वस्तु विषय सावयव रूपक अलङ्कार" है। 'बास'—(वस्त्र और निवास स्थान)—में "श्लेष" भी है। 'करकटक'का आक्रमणरूप कारण रहते भी "लाज रही"— 'लाज जाना'—रूप कार्य्य न हुआ, इससे "विशेपोक्ति" भी है।



३१

दीप उजेरेहू पतिहिं हरत वसन रति काज।
रही लपटि छबिकी छटनि नैको छुटी न लाज॥

अर्थ — सखीका वचन सखीसे —

—(दीप उजेरे हू)— दीपके उजालेमें ही (पतिहि)— पतिको (रति काज, वसन हरत)— रतिके लिये वस्त्रोंको हरता (देखकर), (छबिकी छटनि लपटि रही) —अपने अङ्गकी कान्तिकी छटा—चाकचिक्य—चकाचौंधमें लिपट रही, (नैको लाज न छुटी)— जरा भी लज्जा नहीं छुटी।

—दीपके प्रकाशमें, वस्त्र हर लेनेपर भी, लज्जा न छूट सकी, निरावरणकाय कान्तिकी ,छटा ऐसी छा गयी कि उसने अनावृत अङ्गको ढाप लिया। कान्तिकी छटा ही दीपती है, उसकी चकाचौंधमें शरीर नजर नहीं आता।— "प्रभामात्र हि तरलं दृश्यते न तदाश्रय।"—लज्जा छुडानेका बहुत यत्न किया, पर तो भी वह न छूट सकी, छबि-छटाने उसे बचा लिया।

कारण— 'प्रकाशमें वस्त्रहरण'के रहते भी, कार्य—'लज्जा-त्याग'—न हुआ, अच्छी "विशेषोक्ति" रही ।

—"निलज करनके यतन किय तऊ न छूटी लाज"—(अमरचन्द्रिका)

'प्रतापचन्द्रिका'के मतमें, (यदि उनकी 'वार्ता' ठीक मानी जाय तो) यहा द्वितीय "पूर्वरूप" अलङ्कार भी है ।

"पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि ।
दीपे निर्वापिनेप्यासीत् काञ्ची-रत्नैर्महन्मह ॥" (कुवलयानन्द)
"दूजे, जब गुन ना मिटै किये मिटनके हेत ॥"
"दीप मिटाये हू कियो रशना-मनि उद्योत ।" (भाषाभूषण)

—मिटानेका यत्न करनेपर भी पहले गुणका न मिटना, 'पूर्वरूप'का दूसरा भेद है । दीप बुनाकर 'प्रकाश' —गुण मेटना चाहा, पर अँधेरा नहीं हुआ ।

"तृतीय विभावना" भी सम्भव है । पतिकृत वस्त्राहरण-रूप प्रतिबन्धके रहते भी लज्जालुत्व—कार्य-की उत्पत्ति हो गयी ।

—"विभावना तृतीया स्यात्सत्यपि प्रतिबन्धके ।" (कुवलयानन्द)

'लालचन्द्रिका' और 'रसचन्द्रिका'में ऐसा अर्थ किया है कि —

"पतिने रतिके लिये दीपकका उजाला भी हरा (दीपक बुताया) और वस्त्र भी हरा-(उतारा) पर तौ भी छविकी ज्योतिके कारण (अँधेरा न हुआ) लाज न छुटा, सो पतिसे लिपट गई ।"—

पर यह कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे समय पतिका स्वयं दीपक बुताना रसिक नायकोंके अनुभवविरुद्ध बात है । वह बुतावेगा या उस वक्त बुतते हुएको और चमकावेगा ! काव्योंमें ऐसे अवसरपर नायिका हो सर्वत्र दीप बढ़ानेकी चेष्टा करती सुनी गयी है ।

—'प्रतापचन्द्रिका'ने भी इसपर ऐसी ही अंधेरभरी "वार्ता" लिखी है —

—"दीप-उजेरे हू को हरत है अरु वसन हू हरत है, तऊ लाज न छुटी, अर्थ यह कि अँध्याहारे (अन्धेरे) हू में लजाति है।"

—अर्थात् ऐसी लज्जाशीला है कि अँधेरेमें भी लजाती है। इस प्रकार लज्जातिशयताद्योतनके लिये यह कल्पना की गयी है, पर जब छविकी छटासे अँधेरा ही न रहा तो यह बात (अँधेरेमें लजाना) भी न रही और यदि सचमुच ही "अंधेरा हो गया" तो 'छविकी छटा'के साथ कविताका चमत्कार भी उड गया। इसलिये यह 'वार्त्ता' कुछ अच्छी नहीं रही।



समानलज्जाकामा-वर्णन

३२

समरस समर† सकोच-बस, बिबस न ठिकु ठहराय।
फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति दुरि दुरि उझकति जाय॥

सखीका वचन सखीसे —

अर्थ—(समर, सकोच)—स्मर—काम और सकोच—लज्जा (दोनों), (समरस)—बराबर हैं, (उनके)–(बस)—वशमें होकर (बिबस)—विवश–बेकाबू हुई, (ठिकु न ठहराय)—एक

† "समर समरु" ब्रजभाषामें (बहुधा) अकारान्त शब्द सब उकारान्त हैं, 'समरु' स्मर- काम और 'सकोच' दोऊ सम, 'अरु' के अर्थमें 'र' है, काम और संकोच (सम) बरोबरि है"— (हरिप्रकाश)

ठिकाने, ठीक तौरपर जरा नहीं ठहरती, (फिरि फिरि उझकति)–बार बार, रहरहकर उचकती है–देखनेके लिये ऊपरको उभरती है, (फिरि दुरति)–फिर छिप जाती है, (दुरि दुरि उझकति जाय)—छिप छिपकर उचकती जाती है।

चपलता, औत्सुक्य और त्रपाकी सन्धि।

—"समानलज्जाकामा" नायिका छिपकर नायकको देख रही है, प्रेम उकसाता है तो देखनेको उचकती है, लज्जा दबाती है–(नायक न देख ले या उसे देखते कोई और न देख ले) तो नीचेको झुक जाती है, इसलिये बार बार उभरती है और बार बार छिपती है, न अच्छी तरह देखते ही बनता है, न बिना देखे ही रहा जाता है।

—यहाँ (हरिकविके मतसे) इतने अलङ्कार हैं—

'विवशता'से एक ठौर ठीक न ठहरनेको—बेकरारीको—दृढ किया, इससे 'काव्यलिङ्ग'। भिन्नार्थक "समरस समरस" पदकी आवृत्तिसे 'यमक'। फिरि फिरि इत्यादिमें 'लाटानुप्रास'—(शब्द और अर्थ वही हों, भाव कुछ भिन्न हो, वह 'लाटानुप्रास')—इसप्रकार काव्यलिङ्ग, यमक, और लाटानुप्रास अलङ्कारोंकी 'संसृष्टि' है। जहां अलङ्कार एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं करते, निरपेक्ष भावसे रहते हैं—'तिलतण्डुलवत्'-आपसमें मिले रहते हैं—वहाँ 'संसृष्टि' होती है। 'फिरि फिरि'- इत्यादि पदोंमें "आवृत्ति दीपक"का सन्देह है तो "सन्देह-संकर" भी है। 'फिरि फिरि' उझकति'में "कारक दीपक भी" है—

"उपकारक द्वै एक को जहँ सन्देह लखाय।
इक पद में भूषन बहुत 'संकर' सो कहि जाय॥"

—इसप्रकार "सङ्कर" के तीन भेद हैं—

१—जहाँ एक अलंकार एकको पुष्ट करे।
२—जहाँ सन्देह हो कि यहा यह अलंकार है या यह है।
३—और जहा एक पदमें दो तीन अलंकार हों।

'प्रतापचन्द्रिका' ने "स्वभावोक्ति" और 'सकार रकारकी' आवृत्तिसे 'वृत्त्यनुप्रास' भी गिनाया है।

इसप्रकार यह दोहा अनेक शब्दालंकारों और अनेक अर्थालंकारोंसे आक्रान्त और सर्वाङ्ग समलंकृत है।

३३

करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाये तरफरत करत खूंद सी नैन॥

अर्थ—(मैन)—कामने—कामदेवरूप चाबुक सवारने, (चाह सों चुटकि* कै)—प्रीतिरूप चाबुकसे मारकर, (खरे उड़ौहैं करे)—अच्छे तेज उड़नेवाले किये। और (लाज नवाये तरफरत)—लज्जारूप बागसे खिंचे, तड़फड़ाते हुए (नैन, खूंद सी करत)—नेत्र, खूंद† सी कर रहे हैं—नाच से रहे हैं।

---

* चुटकि कै—कोड़ा मार कर।

† "खूंद" लघुद्रुतगतिसे जमीनको काटते हुए चलना, जहांसे पांव उठाया है फिर वहीं रखना।

—"चुटकना—मारनेको कहते हैं, और 'खूंद' घोड़ेके नाचनेको—(लल्लूलालजी)

—"खरे उड़ौहैं—मैन, चाहरूपी जो छड़ी, तासों मारिकै अति-उड़ौहैं किये।" (हरिप्रकाश)

—अभिलाषा और त्रपा भावकी सन्धि। समान लज्जा-मदना मध्या नायिका।

कामरूपी चाबुक सवारने प्रेम की चाबुक मारकर ऊँचे उठा दिये और लज्जा की बाग से खींच कर नीचे झुका दिये, इस प्रकार तडफडाते नेत्र रूप घोडे मानो खूद सी कर रहे हैं।

—जब, बछेरेको 'औंधी' में फेरते वक्त चाबुकसवार उसके चाबुक या कोडा मारता है, तो वह ऊपरको उछलता और फांदकर भागना चाहता है, परन्तु बागें खिंची रहनेके कारण भाग नहीं सकता, झुककर वहीं आ रहता है। चञ्चल घोडेकी इस दशाकी उपमा कविने चाहका चाबुक खाए हुए और लाजकी बागसे खिंचे हुए नेत्रोंसे दी है।

"उपमान लुप्तोपमालंकार" है। नैन उपमेय हैं, 'सी' वाचक, और 'खूद' धर्म, है पर 'हय' उपमान—लुप्त है।

" 'नैन' यहा उपमेय है, 'सी' वाचक परमान।
'खूँद' धर्म, 'हय' ना कह्यो लुप्ता गह उपमान॥"

(अमरचन्द्रिका)

हरि कविके मतसे "अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" है, यथा —
" खूद क्रिया है, ता के आगे 'सी' वाचक है, जहा क्रियाके आगे वाचक,तहाँ "अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षालंकर जानिए"।

(हरिप्रकाश)—

उत्तरार्द्धमें रकारकी आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास" भी है।

३४

छुटै न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह ।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह ॥

अर्थ —(प्यौ, नैहर[1] गेह लखि)—पतिको प्यौसालमें देखकर, (न लाज, न लालचौ, छुटै—(न लज्जा छूटती है, न प्रियसे मिलनेका लालचही छूटता है । (सकोच सनेह भरे)—सकोच-लज्जा-और स्नेहसे भरे नेत्र (खरे सटपटात)—बहुत सटपटा रहे हैं—व्याकुल हैं—कि क्या करें कैसे मिलें ।

नायिका, अपने पीहरमें है, वहीं नायक-देव पधारे हैं, नायिका मिलना चाहती है, पर नहीं मिल सकती । उसकी आँखोंमें प्रियसे मिलनेका लालच और पीहरकी लाज दोनों भाव बराबर भरे हैं। न वह लालच ही छूटता है, न यह लाजही छूटती है । और न इस दशामें व्याकुलता ही कम होती है ।

"हया बढ़ने नहीं देती इरादा नौ जवानी का ।
इशारा होके रह जाता है हमपर महरबानी का ।"

प्रीति और लज्जाभावकी –सन्धि है, इसलिये 'भाव-सन्धि' अलङ्कार है । प्रीति और लज्जा नायकविषयक भावके अङ्ग हैं । दोनोंका बराबरीका जोड़ है, न प्रीति ही कम, न लज्जा ही कम । नायिकाको दोनोंका आस्वाद बराबर है, न इसे ही छोड़ सकती है न उसे ही ।

" पर्याय " अलंकार भी है—

"एकस्मिन् यद्यनेक वा "पर्याय" सोपि सम्मत ।" (कुवलयानन्द)
—जहाँ एक (आधार)में अनेक (आधेय) रहें, वह भी 'पर्याय कहलाता है ।

1 'नैहर'= प्यौसाल=पीहर=मायका= ये सब स्त्रीके पितृगृहके नाम हैं ।

—"एक त्रिये जहँ बहु बसैं सो 'पर्याय' प्रकास।
लोचन थलमें सटपटी सकुच नेहको बास।" (अमरचन्द्रिका)

जैसे यहाँ नेत्रमें, लज्जा, प्रीति और तज्जन्य व्याकुलताका वास है।

'प्रतापचन्द्रिका'के मतसे उत्तरार्द्धमें 'छेकानुप्रास' और "तुल्ययोगिता" भी है।

"भाव-सन्धि — "एककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वाद",
"समकालमेव विरुद्धयोरपि तुल्यरूपयोरास्वादो वा सन्धि"
(काव्यप्रकाशटीका)

—एक ही साथ तुल्यरूप दो विरोधी भावोंके आस्वादको "भाव-सन्धि" कहते हैं।

"भावसन्धि वाको कहिए जहाँ दोइ सञ्चारी भाव हों"
(प्रतापचन्द्रिका)

३५

पिय बिछुरन कौ दुसह दुख हरष जात प्यौसार,
दुरजोधन लौं देखियत तजत प्रान इहिं बार,

सखीका वचन सखीसे—

अर्थ —(पिय बिछुरनको दुसह दुख)=प्रियके ... दु:सह दु:ख है, और (प्यौसार जात, ... का हर्ष है। (इहि बार, दुरजोधन लौं, प्रान तजत देखियत)= ... वाला (नायिका) दुर्योधनके समान प्राण छोड़ती दीखती है ...

पितृगृह-गमनोद्यता नायिका। हर्ष विषादकी 'भावसन्धि' ...

नायिकाको उसका भाई लेने आया है, वह सुसरालसे अपने प्यौसाल जा रही है, वहाँ जानेका उसे जितना अधिक हर्ष है, प्रियसे बिछडनेका उतना ही असह्य विषाद है। यह देखकर सखी कहती है कि इस दशामें कहीं यह दुर्योधनकी * तरह प्राण न तज दे।

'बार'का अर्थ 'र' 'ल'को एकतासे बाल (ला) है। और 'हरि-प्रकाश'में 'बार'का यह भी अर्थ किया है कि——

"हे सखि! यह नायिका प्राण छोड़ती है, इसे तू 'बार' बरज, रोक– प्रान मत छाड़ने दे—अथवा 'इहि बार' इसदिन–प्यौसाल जानेके दिन"।

"पूर्णोपमालङ्कार"– दुर्योधन–उपमान। बाला –उपमेय। "लौं"—वाचक। "प्राण तजना" —धर्म।

—यहा लल्लूलालजीने 'इहिँ बार' के दो अर्थोंमें, उपमाके भी दो भेद दिखला दिये हैं। यथा— "इहि बार" में दो अर्थ-'इस समैं' और 'यह बाल'। रकार लकार एक है। पहले अर्थ —इस समयमें– 'उपमेयलुप्ता' और दूसरे —यह बाल– में पूर्णोपमालङ्कार है।"— 'अमरचन्द्रिका'में —'बार' का केवल 'समय' ही अर्थ मानकर 'उपमेयलुप्तालंकार' कहा है। यथा— "दुरजोधन लौं तजत प्रान। नायिका नहीं"— उन्हें (सुरतिमिश्रको) 'बार' के श्लेषमें छिपी (उपमेय)—नायिका नजर नहीं आती!

* कहते हैं दुर्योधनको शाप था कि जब तुम्हें एक साथ हर्ष शोकका आवेग बराबर होगा तब प्राण निकलेंगे। वह भीमकी गदाके प्रहारोंसे विक्षताङ्ग रणभूमिमें पड़े सिसक रहेथे, जब "सौप्तिक पर्व"में अश्वत्थामा पांचो पाण्डव-पुत्रोंके सिर काटकर उनके पास लाये तो उन्होंने दूरसे देखकर समझा कि यह पांचो पाण्डवोंके सिर उतार लाये हैं, इसलिये हर्ष हुआ, पर पास आनेपर देखा कि हा! पाण्डु-पुत्र नहीं किन्तु 'पाण्डव-पुत्र' मारे गये! इसी हर्ष शोककी सन्धिमें दुर्योधनके प्राण निकल गये॥

हरसि। प्यौसार। दुरजोजन। बाल। इति पाठान्तराणि।

—"प्रतापचन्द्रिकामें" यहा "दृष्टान्तालंकार" माना है। और यह टिप्पनी चढ़ायी है—"दृष्टान्तालङ्कार। दुरजोधन कैं प्रान तजतौ वेर हरष शोक भयो– तैसो याको हरष शोक भयौ, इहा प्रान तजिवो कौं लीजै। वैधर्म्य।" — (वैधर्म्य दृष्टान्त)

इस दोहेका यह अनुवाद संस्कृत–"यशवन्तयशोभूषण" 'भाव-शवलता' के उदाहरणमें है—

"भर्तुर्वियोग-भावि दु ख, हर्ष पितुर्गृह गतुम्।
दुर्योधनवद् बाला प्राणवियोग समाप्स्यति॥"



न्यूनलज्जा मध्या-वर्णन

३६

पति रतिकी बतियां कही सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय॥

सखीका कथन सखीसे—

अर्थ— (पति रतिकी बतिया कही)—पतिने (नायिकासे) रतिकी बात कही, उसने (मुसकाय सखी, लखी)—मुसकराकर, सखीको देखा। अथवा–'नायक' अर्थाक्षिप्त। 'पति-रति' समस्तपद। पति-रति की—पतिकी तरह रति करने–(पुरुषायित)–की बात नायिकासे (नायकने) कही। (मुसकाय सखी लखी)—नायिकाने मुसकराकर सखीको देखा। या—सखीने नायिकाको मुसकराकर देखा। (सबै अली, टलाटली कै-कै)— सब

[स]खिया टलाटली[1] करके– बहाने बना बनाकर (सुख पाय [च]ली)—सुख पाकर चल दीं।

नायिकाके पास कुछ सखिया बैठीं इधर उधरकी बातें [क]र रहीं थीं। नायकने वहां पहुंचकर नायिकासे चुपकेसे [ए]क गुप्त प्रस्ताव कर दिया, जिसका भाव समझकर चतुर [स]खिया बहाने बना बनाकर वहासे उठ खड़ी हुईं— मकान [ख]ाली कर गयीं।

'पर्य्यायोक्ति' अलंकार है —

"पर्य्यायोक्तन्तदप्याहुर्यद्व्याजेनेष्टसाधनम्।" (कुवलयानन्द)

"छल कर साधिय इष्ट जहँ पर्यायोक्ति सुगाय।
उठिगो इष्ट [illegible] मिसनिसौं उठीं यहा यह भाय॥"(अमरचन्द्रिका)

पूर्वार्द्धमें "छेकानुप्रास," और उत्तरार्द्धमें "वृत्त्यनुप्रास" है। यदि 'मुसकाय' का सम्बन्ध, 'सखी' से समझा जाय अर्थात् 'सखीने मुसकराकर देखा'—ऐसा अर्थ किया जाय—तो परमानन्द कविके मतमें यहा 'पिहित' अलङ्कार होगा —

"पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूत-चेष्टितम्।"
"प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत्।" (कुवलयानन्द)

"पिहित, छिपी पर बातको जानि दिखावै भाय।
प्रातहि आये पीयको [सज पिय] हँसि सायत तिय पाय॥"
(भाषाभूषण)

—दूसरेकी छिपी बातको किसी भावसे जता देना 'पिहित' अलंकार है। सखीने 'मुसकराकर' नायिकाको जता दिया

[1] टलाटली—टाल मटोल करना—बहाना बनाना।
"टलाटली के कै—एकको एकने धका दिया एकको एकने धक्का दिया—ऐसे सारलोक छल से घर सूना करना इष्ट साधा।" (हरिप्रकाश)

धृष्टताको सर्वतोमुखी प्रभुताके साथ नायिकाकी प्रौढता और 'रतिकोविदता'को प्रकट करता है।

उत्प्रेक्षा–व्यञ्जक 'इव' आदि शब्दके न होनेसे यहां "गम्योत्प्रेक्षा" है। यथा —

"नहि वाचक 'मानो' 'किधौं' सभावन सु लखाय।
'गम्योत्प्रेक्षा' कहत तहँ जे पण्डित कविराय॥"

वर्णमैत्री रूप 'वृत्त्यनुप्रास' भी स्पष्ट ही है।

"वृत्त्यनुप्रास हु जोइ, वर्णमित्रता होइ।" (अनवरचन्द्रिका)

तथा 'पर्य्याय'का द्वितीय भेद भी है। यथा—

"एकस्मिन् यद्यनेक वा 'पर्याय' सोऽपि सम्मत।"
"अधुना पुलिन तत्र यत्र स्रोत. पुराऽजनि॥" (कुवलयानन्द)

सो, लज्जा गयी ढिठायी आयी—लज्जाके स्रोतकी जगह ढिठाईका विपुल पुलिन दिखाई देने लगा! कैसा अच्छा 'पर्याय' है।

परमानन्द कविने उक्त दोहेका यह अनुवाद किया है —

"सकोच सकुचित इव त्रपाऽभवत् त्रपितेव।
सुरतारम्भे धृष्टता परिपुष्टा मुदितेव॥"

—" 'सकोच '— सुरताभिलापेऽपि लज्जाधीनतयाऽनाश्लेष स तु सकुचित इवाभवत्। वदनानुद्घाटनरूपा 'त्रपा' तु स्वयमेव त्रपिता इवाभवत्। किन्तु तर्हि मुदिता सुप्रसन्नेव सती केवल "धृष्टता"— सर्वाङ्गश्लेषरूपा परित पुष्टाऽभवदित्यर्थ•।" (शृङ्गारसप्तशती)

यहाँ 'हर्ष' सञ्चारी भाव, आलम्बन—चेष्टारूप 'उद्दीपन विभाव' और 'केलि' संज्ञक हाव-विशेष, रति स्थायी भावके पोषक हैं।

एक संस्कृतकविने भी ऐसे मौकेपर 'लाजके लजाने'-का 'नोटिस' लिया है—

"प्रेयसि प्रणयलालनापरे, नीविबन्धमथ मोक्तुमिच्छति ।
निर्गते परिजने नतभ्रुवो लज्जयेव निरगामि लज्जया ॥"

—प्यारे-ललन लाड़ दुलार करते करते जब कपड़े उतारने (नीविबन्ध-मोक्ष)-पर उतारू होगये तो पहले वहासे शरमाकर सखिया खिसकीं फिर पीछेसे लज्जित होकर लज्जा भी चल दी।



"समस्तरस[रति]-कोविदा-प्रौढा वर्णन"

३८

सब अँग करि राखी सुघर नायक-नेह सिखाय ।
रस-जुत लेत अनन्त गति पुतरी-पातुर राय ॥

सखीका वचन नायकसे — ❀

अर्थ — (नायक-नेह)— स्नेहरूप नायक। = 'उस्ताद'ने (सब अङ्ग सिखाय, सुघरि, करि राखी)— नाचनेके सब अङ्ग सिखलाकर सुघड— चतुर— कर रखी है, ऐसी जो

❀ नायिका "वासकसज्जा" उसकी चंचल दृष्टि देख सखी नायकसे कहती है' (हरिप्रकाश)। "वासकसज्जा नायिकाकी दूती, नायकसे नायिकाकी उत्कण्ठा कहती है"—(प्रतापचन्द्रिका)। "सखी नायकसे नायिकाके नेत्रकी पुतलियोंकी शोभा कहती है"। — (लालचन्द्रिका)
। 'नायक'का अर्थ यहाँ नाच सिखाने वाला 'उस्ताद' है।

(पुतरी-पातुरराय)— पुतली-रूप पातुरराय— नाचनेवाली स्त्रियोंकी सरदार है, वह (रसजुत अनन्त गति लेति)—रस-युक्त होकर अनन्त गति लेती है— थिरकइया अर्थात् तोड़े ले रही है।

—पुतली मानो एक पातुरराय है— साधारण पातुर नाचनेके एक आध अङ्ग ही जानती हैं, यह सब अङ्गोंमें निपुण होनेसे 'पातुरोंकी सरदार' है। इसे सिखाने वाला 'उस्ताद' भी कोई साधारण व्यक्ति नही है, स्वयं 'स्नेह'ने इसे बड़े ही स्नेहसे शिक्षा दी है। जिसे ऐसे कामिल उस्तादने सिखाया हो, उसके 'पातुरराय' होने और रसयुक्त अनन्त गति लेनेमें क्या सन्देह है! (गतिसे अभिप्राय यहा नाचनेकी 'उरप तिरप' आदि गतियों, और पुतलीके फिरनेसे है)

सखी नायकसे कहती है, कि नायिकाके नेत्रकी नृत्यशालामें पातुरराय—पुतली रसमें मस्त हुई नाच रही है, चल कर देखिए तो।

हरि कविने लिखा है कि—

"—नाचनेके चार अङ्ग है—नाचना, गाना, बजाना और भाव बताना। 'पुतली'के पक्षमे चार अङ्ग- कहना, नटना, (मुकरना), रीझना (प्रसन्न होना) और खीझना (नाराज़ होना) ये दृष्टिकी चेष्टा-विशेष समझनी चाहियें।"

भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रजीने अपनी "नाटक" पुस्तकमें 'नृत्त'-के विषयमें लिखा है कि —

"'नृत्त'के शास्त्रोंमें १०८ भेद लिखे है और लागडाट, उरप, तिरप, हस्तक भेद, इत्यादि इसके अङ्ग है।"

अलङ्कार— समस्तवस्तुविषय सावयव "रूपक" है।

—यहाँ 'पुतरी-पातुर' इस एक पदमें 'अनुप्रास' और 'रूपक'का प्रवेश (मेल) होनेसे "एकवाचकानुप्रवेश"-"संकर" अलङ्कार भी है।

—जहा एक पदमें 'शब्दालङ्कार' और 'अर्थालंकार'का मेल हो, वहा "एकवाचकानुप्रवेश"—"सकर" होता है। जैसे यहा "पुतरीपातुरराय" इस एक पदमें 'छेकानुप्रास' शब्दालङ्कार और 'रूपक' अर्थालकारका मेल है।

किसीके मतमें केवल अर्थालंकारोंका भी "एकवाचकानुप्रवेश-संकर" होता है।



मदन-मत्ता-प्रौढा-वर्णन

३६

बिहँसि बुलाय बिलोकि उत, प्रौढ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत को, पिय-चूम्यौ मुख चूमि॥

सखीका वचन सखीसे—

अर्थ—(प्रौढ तिया)—प्रौढा नायिका,(रस घूमि)-रससे घूमकर—झूमकर—अनुरागमें मस्त होकर (बिहँसि बुलाय)—हँसकर और (पुत्रको पास) बुलाकर (उत बिलोकि)—उधर-पतिकी ओर-देखकर, (पूतको पिय चूम्यौ मुख चूमि)—पुत्र (सपत्नी-पुत्र) के पतिसे चूमे हुए मुखको चूमकर, (पुलकि पसीजति)— पुलकित हो पसीजती है।

मदनाधिका प्रौढा नायिकाके पतिने उसके सामने अपनी दूसरी पत्नीके पुत्रका मुख चूमा है, सो पतिके चूमे हुए

उस पुत्र-मुखको चूमकर मदनान्धा नायिकाको सात्त्विक भाव (रोमाञ्च, प्रस्वेद) प्रकट हो आया। साहित्यदर्पणकारने—

"जृम्भते स्फोटयत्यङ्ग बालमाश्लिष्य चुम्बति"—

—जँभाई लेना, अँगड़ाई तोड़ना, किसी बच्चेको लिपटाकर चूमने लगना, इत्यादि चेष्टाओंको अनुराग सूचक अनुभावोंमें गिनाया है। और यही प्रकरण कामसूत्रमें भी आया है—

"बालस्याङ्कगतस्याऽऽलिंगन चुम्बनञ्च करोति।"

यहा (दोहेमें) 'मद' संज्ञक सञ्चारी भाव और 'हेला' हाव है। मद्य-पानसे या कामावेश आदिसे उत्पन्न आनन्दमिश्रित मस्तीको "मद" कहते हैं। अत्यन्त बढ़े हुए रसावेशको प्रकट करनेवाली चेष्टा, 'हेला' कहलाती है। यथा—

"सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगज।" (साहित्यदर्पण)

"विवेकहर उल्लासो 'मद' स द्विविधो मत।
मधुपानभवोऽनङ्गभूतविभ्रमवोऽपि च॥"

"हेला"ऽत्यन्तरसावेशप्रकाश-करणात्मिका।"

अलंकार—"असङ्गति" का दूसरा भेद है—

"अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।" (कुवलयानन्द)

"और ठौर ही कीजिए और ठौरका काम।" (भाषाभूषण)

प्रियका मुख चूमना चाहिये, लड़केका ही चूमने लगी!

सोरठा—"मन मनमथमद धारि चहिए प्रियमुख चूमिबौ।
चूम्यो सुतमुख नारि सु "असगति", यह जान चित॥" (अमरचन्द्रिका)

पूर्वार्द्धमें 'चकार' और उत्तरार्द्धमे 'पकार' की आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास" भी है—

—"वृत्य (वृत्ति-अनुप्रास) एक बहु वर्न की बहुविर समता मानि।"(अ०च०)

परमानन्द कविके मतसे यहां "स्वभावोक्ति" अलंकार भी है।

४०

सोवत लखि मन मान धरि ढिग सोयो प्यौ आय।
रही सुपनकी मिलन मिलि पिय हियसों लपटाय॥

(सखीका वचन सखीसे)

अर्थ—(मन मान धरि)—मनमें मान धारण किए (नायिकाको) (सोवत लखि)—सोती देखकर, (प्यौ ढिग आय सोयो)—प्रिय—नायक, पास आ सोया,(सुपनकी मिलन मिलि)—सुपनेके मिलनेके ढंगसे वह—नायिका (पिय हिय सों लपटाय रही)—प्रियतमकी छातीसे लिपट गयी।

—नायिका मान किए सो रही थी, नायक भी पास आकर पड़ रहा, मान मनमें था, प्रकटमें नहीं, नायक इस बातको समझ गया। प्रकाशरूपसे मनानेमें कदाचित् मान और बढ़ जाय, इसलिये उसने छेड़ा नहीं, वैसे ही आकर चुपचाप लेट गया। नायिकाने भी प्रकाशरूपसे मान छोडनेमें अपनी 'मानहानि' समझी, सो सुपनेके बहानेसे सहजमें करवट बदलकर लिपट गयी। 'अवहित्था' की चतुराईसे आन्तरिक भावको छिपाकर काम निकाल लिया। मान भी बना रहा, काम भी बन गया। न उसे मनाना पड़ा, न इसे स्वयं मान छोड़कर हलका होना पड़ा, दोनों की बात रह गयी।

अलंकार—"पर्यायोक्ति' स्पष्ट है—

"सुपन मिलन मिस धारि, इष्ट सिद्ध किय नारि।" (अमरचन्द्रिका)

—बिना यत्नके वाञ्छितार्थकी सिद्ध—मानकी मुक्ति और प्रियोपभुक्ति—प्राप्त हो गयी, इससे "प्रहर्षण" अलंकार भी है।

"उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम्।" (कुवलयानन्द)

"तीन "प्रहर्षण" जतन बिन वाछित फल जो होय।" (भाषाभूषण)

"तिय हिय"में 'छेकानुप्रास' भी है।

संयोग शृङ्गार- स्थायी भाव। अवहित्था और चपलता सञ्चारी भाव। पूर्ण त्रपा—अनुभाव। ईर्ष्या भावकी शान्ति। हर्ष भावका उदय।

इस दोहेके भावसे मिलती एक प्राकृत "गाथा" है।:—

"भग्गिमो से सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराए।
कइअवसुत्तव्वत्तणथणकलसप्पेल्लणसुहेल्लिम्॥"

(गाथासप्तशती)

("स्मरामस्तस्या शयनपराङ्मुख्या विगलन्मानप्रसरायाः।
कैतवसुप्तोद्वर्तन-स्तनकलश-प्रेरण-सुखकेलिम्॥" ४। ६८)

× × ×

—मान धारण किए मुह फेरे लेटी हुई उसने, मानका वेग कम होनेपर स्वप्नके बहाने करवट बदलकर स्तन-कलशकी जो टक्कर लगायी है—धरकर धकेला है—उस मज़े की कैफियत नहीं भूलती, अबतक याद है! —



परकीया-वर्णन

४१

त्रिवली नाभि दिखायकै सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली अलीकी ओट ह्वै चली भली विधि चाहि॥

(सखीका वचन सखीसे) *

अर्थ.— (सिर ढकि)– सिर ढककर–सिर ढकनेके बहाने-से, (त्रिवली, नाभि दिखायकै)– त्रिवली–पेटकी सलवटों और नाभिको दिखला कर, (सकुचि, समाहि)–फिर, संकोचमें आकर कृत्रिम लज्जासे युक्त होकर। या 'समाहि' समाहित हो–सँभलकर (भली विधि चाहि)– अच्छी तरहसे (नायकको) देखकर, (†अलीकी ओट ह्वै, गली, चली)– सखीकी ओटमें होकर गलीमें चली गयी।

नायकके सामने होकर सखीके साथ परकीया क्रिया-विदग्धा नायिका जा रही थी, सो उसने नायकको एक ढंग (अदा)से त्रिवली आदि दिखलाकर अपना अनुराग व्यञ्जित किया।

केश और वस्त्र सँभालनेके बहानेसे नाभि आदिका दिखाना नायिकाके अनुरागेङ्गित प्रकरणमें साहित्य ग्रन्थोंमें गिनाया है। —

---

* 'नायककी उक्ति होय तो स्मृति गुण-कथन ते पूर्वानुराग व्यङ्ग्य। नायिका 'क्रियाविदग्धा' है। अथवा जिन सखीने लखी है सो सखी सखी सो कहति है, तो लक्षिता परकीया। 'स्वभावोक्ति' अलंकार।" (अन० चन्द्रिका)

†"भली अलीकी ओट ह्वै" भली- नायिका—भली तरह चाहिकै—देखिकै—भली— भलीकी ओट ह्वै कै चली।" (हरिप्रकाश)।

" 'चाह'का अर्थ देखना है।' (रसचन्द्रिका)

परकीया प्रथम मिलन वर्णन

४३

भौंहनि त्रासति मुख नटति आंखिन सौं लपटाति
ऐंचि छुरावति कर इँची आगे आवति जाति॥

(सखीका वचन सखीसे)*

अर्थ — (भौंहनि त्रासति)=भौंहोंसे डराती है, (मुख नटति)=मुंहसे इन्कार करती है, (आँखनि सौं लपटाति†)=आखोंसे लिपटती जाती है। (ऐंचि कर छुरावति)=खींचकर-झटककर- हाथ छुडाती है, पर (इँचो आगे आवति‡ जाति), आप खिंची हुई सी आगेको (नायकके पासको) आती जाती है।

"स्वभावोक्ति"का उत्तम उदाहरण है। घटना-विशेषका बड़ा सुन्दर शब्द-चित्र है। 'त्रासति' 'नटति' आदि कई क्रियाओं का एकही कर्त्ता कारक (नायिका) है, इससे "कारकदीपक"भी अपना स्वच्छ प्रकाश सारे दोहेपर डाल रहा है, जिसमें अनेक भाव भासित हो रहे हैं—

—"कारकदीपक एकमें क्रमतें भाव अनेक"—

तीसरी "विभावना" का भी अच्छा नमूना है—

"प्रतिबाधकके होत हू कारज पूरन होइ।
तीजो भेद विभावना यह जानत सब कोइ॥"

—सो देखिए यहाँ " कारक दीपक "के प्रकाशमें एक नहीं कितने ही प्रतिबन्धकोंके होते हुए 'कारज पूरन' हो गया !

---

* " नायककी उक्ति सखीके प्रति, रतिकोविदा प्रौढ़ा। (प्रतापचन्द्रिका

† "आंखनि सौं लपटाति जाति है—प्रीतिसों देखति है।" (हरिप्रकाश

‡ " आवत जाति "— धीरे धीरे आती है।" (लल्लूलालजी

कितनेही प्रतिबन्धक हुआ करे, कैसेही "दीपकका प्रकाश"
, स्वाभाविक घटना कभी रुक सकती है। 'दीपक' के प्रकाशमें
या, दिनमें गाड़िया लड जाती हैं।

—भौंहोंका डराना, मुंहका मना करना, हाथका झटकना,
सब बाधक देखते ही रह गये और काम होगया। बेचारोंने
पनी ओरसे बहुत जोर लगाया, पर एक 'आखोंके लिपटने'ने
नको लपेट रक्खा। इस Tug of war में आखें अपनी
र्दी (गोल)को छोडकर यदि प्रतिद्वन्द्वीकी ओर न जा मिलतीं—
रको न खीचतीं— तो ऐसा कभी न होता जैसा यह हुआ!
न्धेरकी बात है 'आख' अपनी 'भौंह'का साथ छोडकर उधर
मिले। कोई किसका विश्वास करे। स्वार्थ बुरी बला है, यह
ापसमें फूट डलवा ही देता है।

इस मामलेकी कृष्णकविने जो कैफियत लिखी है, उससे
ारदातका पूरा पता चल जाता है—

कवित्त—

"प्यारे पानि गह्यो आनि भौनमें अकेली जानि,
नैनन चढायके सलोनी ससिरात है।
नैनन हँसौहैं दीठि राखत है सोहैं,
मुसकाय के लजौहैं अङ्ग अङ्ग ठहरात है।
भयो मन भायो ज्यों सुरत सुख पायो,
हिये आनँद बढायो नेक नेकनि डरात है।
झटकि छुटावै बाहि मिल्यो चाहै मन माहि,
करै नाहीं नाहीं याही मिस नियरात है॥"

बिहारीके इस दोहेके उत्तरार्धको थोड़े हेर फेरसे
त्नाकर'ने "कुट्टमित" हावके उदाहरणमें मिला लिया है। यथा—

"कर ऐंचत आवत इँची तिय आपहि पिय ओर।
झूठि हुँ रूठि [सी]रहै छिनक छुवत छराको छोर॥"
(जगद्वि

—(इसपर भूमिका भाग पृ०११६ पर लिखा जाचुका है



४४

देख्यौ अनदेख्यौ कियौ अँग अँग सबै दिखाय।
पैठतिसी तनमें सकुचि बैठी चितै लजाय॥

(सखीका वचन सखीसे)※

अर्थ — (सबै अँग अँग। दिखाय)— (नायिकाने अपने सब अंग अंग नायकको दिखलाकर, (देख्यौ अनदेख्यौ कियौ)— नायकके देखनेको अनदेखा कर दिया (चितै। लजाय)— फिर लज्जित हो देखती है, और (सकुचि तनमे पैठतिसी बैठी)— सकोचसे अपने शरीरमें मानो धसती हुई सी बैठ गयी।

—लज्जासे ऐसी सिमटकर —सुकड़कर— बैठ गयी मानो शरीरमें धसी जाती है।

※ 'यह नायिका परकीयाको चितैके लाज करिबो, (देखकर लज्जा करना) देखो, (देखा) सो नायक सखी सो कहत है।" (कृष्णकवि)

यहाँ अङ्ग अङ्—'वीप्सा'की नियमानतामें "सबै"को व्यर्थ समझकर हरिकविने "सबै"का अर्थ 'समानवयस्का' सखी संबोधन किया है—"हे सखी!"। फिर यह भी लिखा है— "सब अङ्ग "ऐसे भी कहत है।" ‡"चितै लजाय" का अर्थ किया है—" चित्तमें लजाय कै"। यह भी सम्भव है, पर यहाँ "चितै"का 'देखती है'—यही अच्छा मालूम होता है।

नायक नायिकाकी ओर देख रहा है, उसने भी यह लिया है, पर 'अनदेखा' करके— मानो कोई देख ही रहा!— एक ढंगसे नायकको अङ्ग दिखला दिये, जब र लिया कि हाँ, उसने अब अच्छी तरह सब अङ्ग अङ्ग लिया है, तो उधर नजर उठा कर देखा, आँख-आँख मिल गयी—

अब इसे भी छिपाने और यह भाव जतानेको कि मुझे मालूम न था सामनेसे कोई देख रहा है, मालूम होता कि तुमने मुझे इस दशामें देख लिया है। लज्जासे ऐसी सिकुडकर बैठ गयी मानो अपने शरीरमें (कछुवेकी तरह!) री जाती है।

नहानेसे एक एक करके सारे अङ्गोंकी प्रदर्शनी करा-कर, 'क्रियाविदग्धता'का परिचय दे दिया, फिर लज्जित हो सुकडकर ऐसी बैठ गयी मानो यों ही अचानक धोखेसे वह इस अनावृत दशामें देख ली गयी है। पहलेसे मालूम होता कि कोई सामने खडा देख रहा है, तो यों सुकडकर बैठती जैसे अब बैठी है। —"चितै लजाय"— लजाकर देखनेसे यह भाव अभिव्यक्त कर रही है।

"समासोक्ति" है। और वह भी "पैठति सी तनमें," में बहुत अच्छी। —इसी "पैठति" से 'अमरचन्द्रिका'वाले सिर्फ 'समासोक्ति' और हरिकवि— "पैठति सो" पैठति किया है, ताके आगे 'सी' वाचक है, यातें "अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" —निकाल रहे हैं। प्रतापचन्द्रिकावाले —"नहीं हेत फल सम्भवै क्रियसों वाचक जोग।" 'पैठति' क्रिया 'सी' वाचक के जोग है।"— टिप्पनी चढ़ाकर " हरिकवि. (?)"

की पुष्टि कर रहे हैं। 'देख्यो(अन !)देख्यो' में लाटानुप्रास (!) औ 'अङ्ग अङ्ग'में (वीप्सा) भी गिना रहे हैं !

तथा परमानन्द कवि यहा 'पर्यायोक्ति' भी बतल रहे हैं, कि इस बहानेसे अङ्गप्रदर्शनरूप अपने इष्टकी सिद्धि नायिकाने की है। सो यह भी सही।

इसी भावकी एक "आर्या" गोवर्धनाचार्यकी है। यथा

"दृष्टमदृष्टप्राय दयित कृत्वा प्रकाशितस्तनया।
हृदय करेण ताडितमथ मिथ्या व्यञ्जितत्रपया ॥२८॥"

—प्रियको देखा अनदेखा करके, स्तन दिखलाकर पीछे मिथ्या लज्जा जतलातीहुईने छातीपर हाथ दे मारा ! जल्दीसे छाती ढक ली !

"दृष्ट अदृष्टप्रायं कृत्वा"—"देख्यो अनदेख्यो कियौं"— "प्रकाशितस्तनया" — "अंग अंग सबै दिखाय"— । इस प्रकार यहा तक तो स्पष्ट ही शब्दार्थगत सादृश्य है । उत्तरार्ध— —'पैठतिसी तनमें' इत्यादिमें—विहारी कुछ बढ गये हैं।



आकृतिगुप्ता-वर्णन

४५

कारे बरन डरावनो कत आवत इहिँ गेह।
कै वा लख्यौ सखी ! लखै लगै थरथरी देह ॥

(सखीका वचन सखीसे)

अर्थ — (कारे बरन डरावनौ)— काले रंगका डरावना (यह कृष्ण!) (कत इहि गेह आवत)—क्यों इस घर

आता है । (कै वा लख्यौ)– कई वार देखा, (सखी ! लखै)— हे सखी ! इसे देखनेसे (देह थरथरी * लगै)— शरीरमें कँपकँपी आजाती है ।

नायिकाके पास कोई बहिरङ्ग † सखी बैठी है, वहाँ नायक (कृष्ण कन्हैया) भी किसी कामसे आ निकले, उन्हें देखकर नायिकाको आलिङ्गनेच्छाजन्य थरथरी चढ आयी, इसे छिपानेके लिये बात बनाती है कि यह काला रंग ऐसा डरावना है जिसे देखकर मुझे कँपकँपी आजाती है । कई बार ऐसा हुआ है, जब देखा तभी डरसे शरीर काँपने लगा । न जाने क्यों यह डरानेके लिये इधर आ-जाते हैं ।

"व्याजोक्ति" अलङ्कार है—

"व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम् ॥" (कुवलयानन्द)

"व्याजोक्ति कछु और विधि कहै दुरै आकार ।"

—जहा कुछका कुछ कारण बतलाकर बहानेसे किसी आकार—चेष्टा–को छिपाया जाय, वहा 'व्याजोक्ति' अलङ्कार होता है । —जैसे यहाँ सात्त्विक—आलिङ्गनेच्छाजन्य कम्प–का कारण भयको बतलाकर असली सबब छिपा दिया ।

"व्याजोक्ति, कछु कहि जहा लेत अकार दुराय ।
सात्विक दुरयो कहि इहा स्याम बरन डर लाय ॥" (अमरचन्द्रिका)

---

* "अथ कम्प सात्त्विक वर्णनम् ।" (प्रतापचन्द्रिका)

† "ऊपरी (बहिरंग) कोई सखी बैठी है तहाँ नायक आयो है नायिकाको कम्प सात्त्विक भयो है, ताको छिपावती है ।" (हरिप्रकाश

—"यह नायिका परकीया 'हेतुगुप्ता' नायकको देख सात्त्विक भयो है तिसको सखीसे दुराइबेको कहति है ।" "परकीया वाग्विदग्धा" (कृष्णकवि

एक सङ्गति 'सिसु' पाठकी अमरचन्द्रिकाके आधारपर हरि कविने यह लगायी है कि—

"नायकने पड़ौसिनके "शिशु देवर"के हाथ फूल दिये कि जाकर उस (नायिका) पर डाल आओ, फूल नायकके छुए हुए थे, इस सम्बन्धसे, उस 'शिशु'—बच्चे के डालनेसे भी नायिकाको सात्त्विक हो गया।"

प्रश्न—१-"सिसुते सात्त्विक होत नहि, २—देवर धर्म विरुद्ध।"

उत्तर—१-"तहँ 'सिसु-सुमन' विचार कहि 'कली' कठिन मति सुद्ध।"

उत्तर—२-"किहुके देवर किहि सुतिय ऊपर डारे फूल।
निज देवरकी बहु कहति अरु तियकी[मों] रसमूल॥"(अमरचन्द्रिका)

तीसरा प्रकार यह है कि 'सिसु' का सम्बन्ध औषध करनेवाली सखीसे समझा जाय। नासमझीका काम करनेके कारण वह 'युवति' होकर भी "शिशु" ही है। जैसा नैषधमें श्रीहर्षने हसके मुखसे युवति दमयन्तीको कहलवाया है—

"अहो शिशुत्व तव खण्डित न
स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन।"

अलङ्कार— "भ्रान्तिमान्"। "अंग देह"में 'अर्थावृत्ति दीपक'।

इस दोहेके भावसे विलकुल मिलती हुई एक "गाथा" गाथासप्तशतीमें है। यथा—

"काचिद् दूती नायिकाया देवरानुरक्तत्वेनासाध्यत्व सूचयन्ती जार प्रत्याह—

"णवलअपहर अंगे जहिं जहिं महइ देव-[अ]रो दाउम्
रोमञ्चदण्डराई तहिं तहिं दीसइ वहूए॥"

—"नवलता-प्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम्।
रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वा॥" (१।२८

× × ×

—बहूके जिस जिस अङ्गपर देवर, नवीन लताकी कोमल "कमची" मारना चाहता है—मारता नहीं, मारनेकी चेष्टा करता है— इतनेहीसे बहूके उसी उसी अङ्गपर रोमाञ्चकी "दण्डराजि'—डंडेकी तरह मोटी उभरी हुई पंक्ति — दिखायी देने लगती है!

नवीन लताके प्रहारकी चेष्टामात्रसे रोमाञ्चकी "दण्ड-राजि"का उभर आना नायिकाके सौकुमार्य और देवरनिष्ठ रागाधिक्यका सूचक है!

यहा (गाथामें) नवीन लताके प्रहारकी इच्छामात्रसे "रोमाञ्च दण्डराजि" (बद्धिया) उठ आती हैं, और दोहेमें 'फूलके प्रहार'से ही इतना रोमाञ्च हो आता है कि जिसे देखकर सखीको दद्योड़ोंका भ्रम हो जाता है। दोनो जगह सौकुमार्य और अनुरागका "औसन" करीब करीब बराबर है!

यहा 'गाथा'में हँसी दिलानेवाली "भ्रान्ति" नहीं है, और रोमाञ्चके कारणको स्पष्ट करनेवाला "हरपि" भी नहीं है।

दोहेमें 'भ्रान्ति'वाली बातने 'शृङ्गार' के 'प्रपानक'में हसीकी जाफरान मिलाकर एक अद्भुत स्वाद भरा माधुर्य पैदा कर दिया है!

एक ऐसी ही घटनाकी "भ्रान्ति"से हँसी दिलानेवाली आर्या "आर्यासप्तशती" में है।—

"एतस्या पतिरत्यन्तजडोऽस्ति, अतस्त्वया न भेतव्यमिति काचित् कञ्चिद्वक्ति"—

> "उपनीय चलमकुसुमं कथयति समयज्ञिपतिताके तिलकं।
> शोणं सोमार्जितभिः यधूस्तने व्याधिमुपजातम् ॥१३०॥"

—एक अन्जलि धान वैद्यजीकी भेंट करके, वहूकी नयी व्याधिसे डरा हुआ हाली —मूर्ख ग्रामीण— कहता है कि महाराज वहूके स्तनके पास अर्द्ध-चन्द्राकार लाल लाल कुछ रोग * हो गया है ! कृपाकर इलाज बताइए, क्या किया जाय, कैसे उस रोगकी शान्ति हो !

बिहारीने इस 'आर्या' के भोले 'हालिक' की 'भ्रान्ति' दर्दोंका इलाज करनेवाली सीधी सादी सखीमें संक्रान्त (दाखिल) करदी और इस प्रकार मानो 'गाथा' और 'आर्या'के अर्कसे इत्र निकालकर दोहेकी शीशीमें वन्द कर दिया !



४७

इह काँटे मो पाय लगि लीनी मरति जिवाय।
प्रीति जनावत भीतिसौं मीत जु काढ्यौ आय॥

(प्रेमगर्विता परकीयाकी उक्ति अन्तरङ्ग सखीसे) †

अर्थ — (इह काटें)=इस काटेंने (मो पाय लगि)= मेरे पावमें लगकर, (मरति जिवाय लीनी)= मुझे मरतीको जिला लिया, क्योंकि (प्रीति जनावत)= प्रीति जताते हुए और (भीति सौं) डरसे (मीत जु आय काढ्यौ)= मित्र-नायकने जो आकर (यह काटा) निकाला ।

---

* आरक्त अर्धचन्द्राकार 'नखक्षत' को वेचारा बीमारी समझ रहा है !

† उक्ति नायिकाकी अन्तर्वर्त्तिनी (अन्तरङ्ग) सखी प्रति, उपपतिको प्रेमनिवेदन वचन अनुभाव ते हर्ष सञ्चारी, पूर्वानुराग व्यङ्ग्य । व्याधिको मिलन ।" (अनवरचन्द्रिका)

चन्द्रिका इस "व्याधिको मिलन" कथनसे मालूम होताहै कि नायक ... सर्जन डाक्टर है ।

—नायिकाके पावमें कहीं काटा लग गया, जिसे नायकने डरते डरते–(निकालनेमें नायिकाको दु ख न पहुचे इस विचारसे) बड़े प्रेमसे– ओह बड़ा गहरा काटा लगा है– इस सुकोमल पद-पल्लवमें ऐसा कठोर काटा ! शिव ! शिव ! कहीं निकालतेमें टूट-कर अन्दर न रह जाय, घाव पक न जाय, यह वेदना इस सुकु-मारीसे कैसे सही जायगी !– इस प्रकार भय और प्रेम प्रकाश करते हुए निकाला है। सो नायिका उस काँटेका धन्यवाद करती हुई कहती है कि इस काटेने पावमे लगकर मुझे मरतीको जिला दिया, जिस चितचोरके दर्शन स्पर्शनको तरस रही थी, इसकी कृपासे उसके पीयूष-पूर्ण पाणिका स्पर्श प्राप्त हो गया ! वियोग-विषसे मूर्छित थी, दर्शन स्पर्शनरूप अमृत मिल गया ! इस काँटेका भला हो, इसकी बदौलत जी मिली ! न यह लगता, न वह आकर इसे निकालते, न यह जीकी कसक जाता—न मै जीती !

हरकविके मतमें चौथी विभावना—"जबै अकारन वस्तुतें कारज परगट होय"। है और अमरचन्द्रिका तथा रसचन्द्रिकाके मतमें ४र्थी विभावना—"काहू कारन तें जबै कारज होय विरुद्ध" है। अकारण या विरुद्ध कारण- काटेसे जीवन कार्य होगया। 'मीत मीत'से 'अनु-प्रास' भी है।

लल्लूलालजीने इस दोहेको "सम्यग्वचनविदग्धा हेतु-गुप्ता वर्णन" शीर्षक देकर पूर्वार्द्धमें नायिकाका वचन सखीसे, और उत्तरार्द्धमें सखीका वचन सखीसे मानकर अर्थ किया है—

"इस काटेने मेरे पावमें लगके मुझे लिया मरते हुए जिवाय ॥
नेह जताती है डरस, प्रीतमने जो काढ़ा है आके काटा।"

(लालचन्द्रिका)

—यह अर्थ ठीक समझा जाय तो नायिका "सम्यग्वचन-विदग्धा" और "हेतुगुप्ता" कहाँ रही ? पूर्वार्द्धसे तो प्रतीत होता

है कि वह "प्रेमगर्विता" है, जो कांटे की प्रशंसाके रूपमें नायकका अपने ऊपर प्रेम प्रकट कर रही है, और उत्तरार्द्ध सखी वाक्यसे जाना जाता है कि वह "लक्षिता" है। सखी उसके प्रच्छन्न प्रेमको ताड़ गयी! इस कारण लल्लूलालजीका यह शीर्षक और पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्धकी पृथक् कथनोपकथनकी कल्पना दोनों ही संगत नहीं।

एक प्राचीन संस्कृत पद्य है—

"इह स्फुटं तिष्ठति नाथ! कण्टकः शनैः शनैः कर्ष नखाग्रलीलया।
इतिच्छलात्काचिदलग्नकण्टकं पदं तदुत्सङ्गतले न्यवेशयत्॥"

—हे प्रिय! देखिए इस जगह काटा ज़रूर धँस रहा है, इसे शनैः शनैः (आहिस्ता आहिस्ता-इतमीनानसे जल्दी नहीं!) नाखूनकी नोकसे उभारकर निकालो—इस बहानेसे किसी नायिकाने बिना काटा लगे पावको ही नायककी गोदमें रख दिया।

उक्त दोहे और इस श्लोकमें बहुत तो नहीं पर इतना साम्य अवश्य है कि काटा भी वक्तपर काम निकालनेकी एक चीज़ है। जो पाँवमें लगकर कभी कभी दिलकी कसक निकाल दिया करता है!

"स्वयंदूतिका"-वर्णन

८८

घाम घरीक निवारियै कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलति मालती कुंज॥

(वाग्विदग्धा स्वयंदूती की उक्ति नायक से)

अर्थ — (जमुनातीर, घरीक, घाम, निवारियै)—जमुनाके किनारे घड़ी एक घाम—धूप-का वक्त बिताइए, जमुना-

तीर। कैसा है— (ललित, अलिपुञ्ज कलित)—सुन्दर है, भौंरोंके झुण्डसे युक्त है और जहां (तमालतरु मिलति मालती-कुञ्ज)—तमालवृक्षसे मिलीहुई चमेलाकी कुञ्ज है।

दोपहरका समय है, धूप पड रही है, पास ही यमुना बह रही है, स्वयंदूता (मध्याह्नाभिसारिका) नायिका, नायकसे कहती है कि इस वक्त कहां जा रहे हो! जरा-धूप कम होने दो, देखो सामने जमुना किनारे क्या अच्छी जगह है! तमालपर चमेलीकी बेल (लता) चढ रही है, उसकी वह कैसी सुन्दर कुञ्ज है, जहां भौंरोंका झुंड गुंजार रहा है! वहां घडीभर बैठकर धूपका वक्त काटो, आराम करो! 'रमणीय' और 'निर्जन' स्थान है! वहां चलकर विहार करो। "तत्र गत्वा मया सह विहरस्वेति ध्वनिः।"

तमालतरुसे मिले मालतीकुञ्जके कथनमें एक खास बात है— विशेष ध्वनि है —। जैसे 'तमालतरु' और 'मालती-लतिका'का सुन्दर संयोग है ऐसे ही— "आवयोः कृष्णगोप्यो-रपि सुन्दर संयोग स्यादित्याकूतम्!"

अलङ्कार— "पर्यायोक्ति" अतिस्पष्ट है। विश्रामके लिये एकान्त मालतीकुञ्ज बतलानेके व्याजसे मिलना इष्ट है।

'अमरचन्द्रिका' आदिके मतसे यहां "गूढोत्तर" अलंकार है।

यथा— "वचन गूढ निज भाव सौं "गूढोत्तर" कहि ताहि।
सुमधन मालतिकुञ्जमें स्वयदूतता चाहि॥" (अमरचन्द्रिका)

अलङ्कारका नाम तो "उत्तर' है, 'गूढोत्तर'—पद तो उसके लक्षण—वाक्यका एक अंश है। यथा—

"किञ्चिदाकूतसहितं स्याद् गूढोत्तरमुत्तरम्।"
यत्रासौ वेतसी पान्थ तरीव सुतरा सरित्॥" (कुवलयानन्द)

—"किंचिदभिप्रायसहित गूढमुत्तमुत्तर नामालङ्कार।"
(अलङ्कारचन्द्रिका टीका)

सो भूलसे लक्षणवाक्यान्तर्गत 'गूढोत्तर'को लक्ष्य—(उत्तरालङ्कार)—का नाम दे दिया गया प्रतीत होता है। आश्चर्यकी बात है कि कवि परमानन्दजीने भी—

"किञ्चिदाकूतपिहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तर"-मितिलक्षणात्-"गूढोत्तरालङ्कार"— यह लिख दिया है।! अस्तु।

यहा "उत्तरालङ्कार" मानें तो प्रश्नकी कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार कि— कोई पान्थ किसी रमणीसे रास्ता पूछता है, वह कहती है कि यह कूपका वक्र है। कुछ आराम कर लो, फिर जाइयो। इस आराम करनेकी तरकीबमें उसका आराम भी मिला हुआ है— उसे— (रास्ता बतानेवालीको)—"घाम घरीक निवारियै"के उपदेशसे अपनी अतनु तापोपशान्ति, इष्ट है—इस उत्तरमें 'गूढ अभिप्राय' छिपा हुआ है। इससे "उत्तर" ("गूढोत्तर" नहीं।) अलङ्कार है।

एक ऐसी ही "स्वयदूतीकी सुन्दर गाथा "गाथासप्तशती"में है। यथा—

स्वयदूती पथिकमाह—

"थोअ पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतललुक्का।
आअवभएण छाही वि पहिअ ता किं ण वीसमसि॥"

"स्तोकमपि न निःसरति मध्याह्ने पश्य शरीरतललीना।
आतपभयेन च्छायापि पथिक! तत्किं न विश्राम्यसि॥"(१।४९)

—धूपसे घबराकर जिस छायाके आश्रयमें पथिक लोग विश्राम लेते हैं, वह 'जड़' छाया भी धूपके डरसे, शरीरके नीचेसे इस समय बाहर नहीं निकलती, फिर हे पथिक! तुम 'चेतन' होकर भी इस वक्त घाममें क्यों घूम रहे हो! क्यों नहीं आराम करते?

'गाथा'की "स्वयंदूती"ने धूपकी प्रचण्डताका डर दिखाकर, पथिकको आराम करनेकी सलाह दी है, और दोहेकी स्वयंदूतीने, घाम बितानेके स्थानकी रमणीयताका लालच दिलाकर काम निकालना चाहा है।

—एक ओर—(गाथामें) जब छाया भी बाहर निकलती डरती है। —घामके डरसे शरीरतलमें सिमटी पड़ी है— तो ऐसेमें और कौन शरीरधारी यहा आने लगा है, जिसकी आशंका हो!, दूसरी ओर—(दोहेमें) तमाल और मालती-की कुंज ऐसा सघन है कि वहा कोई आ भी निकले तो भी पता नहीं पा सकता— यह भाव व्यङ्ग्य हैं।

"स्वयंदूती"

'स्वयंदूती' या "स्वयंदूतिका" साहित्यकी परिभाषामें उस नायिकाको कहते हैं जो अपने लिये स्वयं दूतत्व करे —वह अपना पैगाम— दिलदार— चितचोर— तक खुद पहुंचाती है। किसी ढंगसे, किसी अदा या इशारेसे— 'क्रिया-विदग्धताके रूपमें या व्यङ्ग्योक्तिद्वारा वचन-विदग्धता के रूपमें अपना अभिप्राय प्रकट करती है। इसका उदाहरण बिहा-रीका उक्त दोहा और वह प्राकृत गाथा है।

...र' महाराजका यह कवित्त– (जो सन्ध्या-... किसी स्वयंदूतीकी उक्ति है)— इसका

—"किंचिदभिप्रायसहित गूढमुत्तरमुत्तर नामालङ्कार' । "

(अलङ्कारचन्द्रिका टीका)

सो भूलसे लक्षणवाक्यान्तर्गत 'गूढोत्तर'को लक्ष्य—(उत्तरालङ्कार)—का नाम दे दिया गया प्रतीत होता है! आश्चर्यकी बात है कि कवि परमानन्दजीने भी—

"किञ्चिदाकूतसहित स्याद्गूढोत्तरमुत्तर"-मितिलक्षणात्-"गूढोत्तरालङ्कार"— यह लिख दिया है।। अस्तु।

यहा "उत्तरालङ्कार" मानें तो प्रश्नकी कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार कि— कोई पान्थ किसी रमणीसे रास्ता पूछता है, वह कहती है कि यह कूपका वक्र है! कुछ आराम कर लो, फिर जाइयो! इस आराम करनेकी तरकीबमें उसका आराम भी मिला हुआ है— उसे— (रास्ता बतानेवालीको)—"वाम शरीक निवारियें"के उपदेशसे अपनी अतनु तापोपशान्ति है—इस उत्तरमे 'गूढ अभिप्राय' छिपा हुआ है। "उत्तर" ("गूढोत्तर" नहीं!) अलङ्कार है।

एक ऐसी ही "स्वयदूतीकी सुन्दर गाथा

—धूपसे घबराकर जिस छायाके आश्रयमें पथिक लोग विश्राम लेते है, वह 'जड़' छाया भी धूपके डरसे, शरीरके नीचेसे इस समय बाहर नहीं निकलती, फिर हे पथिक ! तुम 'चेतन' होकर भी इस वक्त घाममें क्यों घूम रहे हो ! क्यों नहीं आराम करते ?

'गाथा'की "स्वयंदूती"ने धूपकी प्रचण्डताका डर दिखाकर, पथिकको आराम करनेकी सलाह दी है, और दोहेकी स्वयंदूतीने, घाम बितानेके स्थानकी रमणीयताका लालच दिलाकर काम निकालना चाहा है।

—एक ओर—(गाथामें) जब छाया भी बाहर निकलती डरती है ! —घामके डरसे शरीरतलमें सिमटी पड़ी है—तो ऐसेमें और कौन शरीरधारी यहा आने लगा है, जिसकी आशंका हो !, दूसरी ओर—(दोहेमें) तमाल और मालतीकी कुञ्ज ऐसा सघन है कि वहा कोई आ भी निकले तो भी पता नहीं पा सकता— यह भाव व्यङ्ग्य है।

"स्वयदूती"

'स्वयंदूती' या "स्वयंदूतिका" साहित्यकी परिभाषामें उस नायिकाको कहते हैं जो अपने लिये स्वयं दूतत्व करे —यह अपना पैगाम— दिलदार— चितचोर— तक खुद पहुंचाती है। किसी ढंगसे, किसी अदा या इशारेसे— 'क्रिया-विदग्धताके रूपमें या व्यङ्ग्योक्तिद्वारा वचन-विदग्धता के रूपमें अपना अभिप्राय प्रकट करती है। इसका उदाहरण बिहारीका उक्त दोहा और यह प्राकृत गाथा है।

कविराज 'शंकर' महाराजका यह कवित्त- (जो सन्ध्याभिसारिका रूपगर्विता किसी स्वयंदूतीकी उक्ति है)— इसका उत्तम उदाहरण है—

—"किंचिदभिप्रायसहित गूढमुत्तरमुत्तर नामालङ्कार. । "
(अलङ्कारचन्द्रिका टीका)

सो भूलसे लक्षणवाक्यान्तर्गत 'गूढोत्तर'को लक्ष्य—(उत्तरालङ्कार)—का नाम दे दिया गया प्रतीत होता है। आश्चर्यकी वात है कि कवि परमानन्दजोने भी—

"किञ्चिदाकूतपिहित स्याद्गूढोत्तरमुत्तर"-मितिलक्षणात्-"गूढोत्तरालङ्कार '— यह लिख दिया है।। अस्तु।

यहा "उत्तरालङ्कार" मानें तो प्रश्नकी कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार कि— कोई पान्थ किसी रमणीसे रास्ता पूछता है, वह कहती है कि यह बूपका वृक्ष है। कुछ आराम कर लो, फिर जाइयो। इस आराम करनेकी तरकीबमें उसका आराम भी मिला हुआ है— उसे— (रास्ता बतानेवालीको)—"धाम धरीक निवारियै"के उपदेशसे अपनी अतनु तापोपशान्ति इष्ट है—इस उत्तरमे 'गूढ अभिप्राय' छिपा हुआ है। इससे "उत्तर" ("गूढोत्तर" नहीं।) अलङ्कार है।

एक ऐसी ही "स्वयदूतीकी सुन्दर गाथा "गाथासप्तशती' में है। यथा—

स्वयंदूती पथिकमाह—

"थोअं पि ण णीसरई मज्झण्हे उह सरीरतललुक्का ।
आअवभएण छाही वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥"

"स्तोकमपि न नि सरति मध्याह्ने पश्य शरीरतललीना ।
आतपभयेन च्छायापि पथिक ! तत्कि न विश्राम्यसि ॥"(४।४९)

❀ ❀ ❀

२—"प्रतिग्रहच्छलेनान्यामभिसंधायास्या सदेशश्रावणद्वारेण नायक साधयेत् ता चोपहन्यात् सापि "स्वयदूती" ।"

अर्थात् जो किसी (नायिका) की ओरसे दूती बनकर जाय और वहाँ— नायकके पास— पहुचकर दूतत्वको भूल जाय,— दूतीसे 'नायिका' बन जाय, वह स्वयदूती है । यह वह स्वयदूती है जो दूतत्व स्वीकार करने और नायकके पास पहुचने तक तो नेकनीयत रही हो, पर ऐन वक्तपर बदनीयत बन बैठे !

दूसरे प्रकारकी स्वयदूती वह है, जिसकी नीयत पहलेहीसे खराब हो— जिसने किसीका दूतत्व ही इसलिये स्वीकार किया हो कि इस बहानेसे नायक तक पहुचने और अपनी मन्मथ-व्यथा सुनानेका अवसर मिले। जिसकी दूती बनकर चली है उसका काम बिगाड़कर अपना काम सिद्ध करले—'ता चोपहन्यात्'— नायिकाको खिन्न करके, "नायक साधयेत्"— नायकको सीधा करले !—

क्रियाविदग्धा-वर्णन

४६

हरषि न बोली लखि ललन निरखि अमिल सँगसाथ।
आँखिन हीं में हँसि धर्‌यौ सीस हिये पर हाथ ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(ललन लखि, हरषि)—प्यारे ललनको दे॰

"आननकी ओर चले आवत चकोर मोर
दौर दौर बार बार बेनी झटकत हैं,
बैठ बैठ 'शंकर' उरोजनपै राजहंस
हारनके तार तोर तोर पटकत हैं।
झूम झूम चरनन को चूम चूम चञ्चरीक
लटकी लटनमें लिपट लटकत हैं
आज इन बैरिनसों बनमें बचावे कौन
अबला अकेली मैं अनेक अटकत हैं ॥"

❀ ❀ ❀

खुले शब्दोंमें—नंगे स्वरूपमें—अपना भाव प्रकट करने वाली स्वयंदूतीके उदाहरणमें यह दोहा प्रसिद्ध है—

"मो ही सों किन भेंट ले जौलौं मिले न बाम।
सीत-भीत तेरो हियो मेरो हियो हमाम ॥"

वात्स्यायनके कामसूत्रमें—

१—निसृष्टार्था, २—परिमितार्था, ३—पत्रहारी, ४—स्वयंदूती, ५—मूढदूती, ६—भार्यादूती, ७—मूकदूती, ८—वातदूती चेति दूतीविशेषा.।"

—दूतियोंके ये आठ भेद गिनाये हैं, और 'स्वयंदूती'का लक्षण इस प्रकार किया है—

?—"दौत्येन प्रहिताऽन्यया स्वयमेव नायकमभिगच्छेत्-(काम-येत्)-सा "स्वयंदूती" ।

३—अथवा सीसपर हाथ रखकर, 'प्रणाम' किया कि जाती हूँ— (आज्ञा दीजिए) — जाती हूँ, पर तुम हृदयमें बसते हो, हरवक्त साथ हो ।"

—आजकल स्त्रियोंका पुरुषोंको प्रणाम करना प्रचलित नहीं है—स्त्रियां पुरुषोंको प्रणाम नहीं करतीं—इसलिये कदाचित् किसीको इस तृतीय अर्थकी प्रामाणिकतामें सन्देह हो, इससे हरिकवि लिखते हैं कि "नायिकाको प्रनाम यन्यों है"—(नायिकाकृत प्रणाम कहा है) —"न्हाय पहिरि पट उटि (उठि) कियो वेंदीमिस परनाम" (इस अगले दोहेमें)—स्त्रिया—

४—सीस पै हाथ धरा—"सीस" को उलटा पढ़ो तो 'ससी' (शशी) होता है, उसे हाथसे छिपाया, चन्द्रमाके अस्त होनेपर मिलूँगी । हियेपर हाथ धरकर बतलाया कि मतलब समझ गये न ?

'आँखमें हँसने' का भाव हरिकविने यह बतलाया है कि "आखोंमें हँसकर अपना निश्चय राजीपना (प्रसन्नता) जतलाया, क्योंकि मुहँ की हाँसी झूठी भी है । नेत्रकी क्रिया सब सच्ची, प्रमाण—"झठे जानि न समहे मनु मुँह निकसे बैन"[1] (दोहा ४६१)

—अलङ्कार— " सूक्ष्म" या 'पिहित' ।

'प्रतापचन्द्रिका' में "आखोंके हँसने" से "चौथी विभावना" भी मानी है । " जहँ अकारन वस्तु तें कारज परगट होय"—



प्रसन्न हुई, पर (अमिल संग साथ* निरखि, बोली न)—बेमेल संग साथ देखकर बोली नहीं, बात न कर सकी, (आंखन ही मैं हँसि)—आंखोंहोमें हँसकर, (सीस हिये पर हाथ, धरयौ)—सिर और छातीपर हाथ रखा !

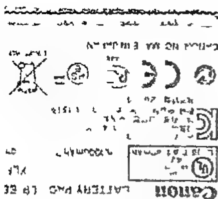
नायिकाको कहीं मार्गमें नायक आता मिल गया। संग साथ बेमेल—(जिससे मन नहीं मिला)— है। —ऊपरी आदमी (नायकके) या बहिरङ्ग सखी (नायिकाके) साथमें है, इसलिये कुछ कह सुन न सकी, सो हर्षको तो, आंखोंमें हँसीकी झलक दिखलाकर प्रकट किया और बातचीतका काम—'बोधक हाव'—इशारोंसे निकाला। सिर छातीपर हाथ धरनेका यह अभिप्राय है कि तुम मेरे सिरताज हो, और हृदयमें बसते हो।

इस बोधक हाव—"सीस हिये पर हाथ" रखनेके अर्थ भाव हरिकविने निकाले हैं। यथा —

१—"सीसपर हाथ धरा, केश श्याम है, सो जब अंधेरा होगा तब मिलूँगी। हियेपर हाथ धरनेसे यह कि 'कुच' को 'शंभु' कहते हैं (उपमा देते हैं) महादेवको छूकर कहती हूं कि अवश्य मिलूंगी।

२—अथवा, सीसपर हाथ धरा—मणिमय सीसफूल छिपाया, अर्थात् सूर्य अस्त होनेपर मिलूंगी। और यह बात मेरे हृदयमें बसी है, भूलूँगी नहीं, इसलिये हृदयपर हाथ रखा।

* हरिप्रकाश में 'संग साथ' की पुनरुक्तिसे बचनेके लिये "... साथ" पाठकी कल्पना की है और "संगसाथ' को पाठान्तर माना है ... सग साथ—दोनो शब्दोंको दो ठिकाने लगाया है—नायिकाके ... अमिल सखी है और नायकके साथ अमिल सखा है।" परन्तु संग साथ एक साथ मिलाकर बोलना एक मुहावरा है।



...म' किया कि जाती हूँ— (आज्ञा ... बसते हो, हरवक्त साथ हो ।" [redacted]ो प्रणाम करना प्रचलित ...ाम नहीं करतीं—इसलिये ... अर्थकी प्रामाणिकतामें सन्देह ...के "नायिकाको प्रनाम वन्यों है"— (नायिकाकृत प्रणाम कहा है) —"न्हाय पहिरि पट डटि (उठि) कियो बैंदीमिस परनाम" (इस अगले दोहेमें)—किया—

—सीस पै हाथ धरा—"सीस" को उलटा पढो तो 'ससी' (शशी) होता है, उसे हाथमें छिपाया, चन्द्रमाके अस्त होनेपर मिलेंगी । हियेपर हाथ धरकर बतलाया कि मतलब समझ गये न ?

'आँखमें हँसने' का भाव हरिकविने यह बतलाया है कि आखोंमें हँसकर अपना निश्चय राजीपना (प्रसन्नता) जतलाया, क्योंकि मुहँ की हाँसी झूठी भी है । नेत्रकी क्रिया सच सच्ची, प्रमाण—"झूठे जानि न सग्रहे मनु मुँह निकसे बैन"। (दोहा ४२१)

—अलङ्कार— "सूक्ष्म" या 'पिहित' ।

'प्रतापचन्द्रिका' में "आखोंके हँसने" से "चौथी विभाना" मानी है । "जबे अकारन वस्तु तें कारज परगट होय"—



प्रसन्न हुई, पर (अमिल संग साथ* निरखि, बोली न)—बेमेल संग साथ देखकर बोली नहीं, बात न कर सकी, (आँखन ही मैं हँसि)—आखोंहीमें हँसकर, (सीस हिये पर हाथ धर्यौ)—सिर और छातीपर हाथ रखा !

नायिकाको कहीं मार्गमें नायक आता मिल गया। संग साथ बेमेल—(जिससे मन नहीं मिला)— है। —ऊपरी आदमी (नायकके) या वहिरङ्ग सखी (नायिकाके) साथमें है, इसलिये कुछ कह सुन न सकी, सो हर्षको तो, आखोंमें हँसीकी झलक दिखलाकर प्रकट किया और बातचीतका काम—'बोधक हाव'—इशारोंसे निकाला । सिर छातीपर हाथ धरनेका यह अभिप्राय है कि तुम मेरे सिरताज हो, और हृदयमें बसते हो।

इस बोधक हाव—"सीस हिये पर हाथ" रखनेके अनेक भाव हरिकविने निकाले हैं। यथा –

१—"सीसपर हाथ धरा, केश श्याम है, सो जब अंधेरा होगा तब मिलूँगी। हियेपर हाथ धरनेसे यह कि 'कुच' को 'शम्भु' कहते है (उपमा देते है) महादेवकी क़सम कहती है कि अवश्य मिलूँगी।

२—अथवा, सीसपर हाथ धरा—मणिमय सीसफूल छिपाया, अर्थात सूर्यास्त होनेपर मिलूँगी। और यह बात मेरे हृदयमें बसी है, भूलूँगी नहीं, इसलिये हृदयपर हाथ रखा।

* हरिप्रकाश में 'संग साथ' की पुनरुक्तिसे बचनेके लिये "सुख साथ" पाठकी कल्पना की है और "संगसाथ" को पाठान्तर मानकर सग साथ—दोनो शब्दोंको दो ठिकाने लगाया है—नायिकाके संग अमिल सखी है और नायकके साथ अमिल सखा है।" परन्तु सग साथ एक साथ मिलाकर बोलना एक मुहावरा है।

३—अथवा सीसपर हाथ रखकर, 'प्रणाम' किया कि जाती हूँ— (आज्ञा दीजिए),—जाती हू, पर तुम हृदयमें बसते हो, हरवक्त साथ हो ।"

—आजकल स्त्रियोंका पुरुषोंको प्रणाम करना प्रचलित नहीं है—स्त्रिया पुरुषोंको प्रणाम नहीं करती—इसलिये कदाचित् किसीको इस तृतीय अर्थकी प्रामाणिकतामें सन्देह हो, इससे हरिकवि लिखते हैं कि "नायिकाको प्रनाम क्यों है"—(नायिकाकृत प्रणाम कहा है) —"न्हाय पहिरि पट उटि (उठि) कियो बैंदीसिस परनाम" (इस अगले दोहेमें)—किया—

४—सीस पै हाथ धरा—"सीस" को उल्टा पढो तो 'ससी' (शशी) होता है, उसे हाथमें छिपाया, चन्द्रमाके अस्त होनेपर मिलूंगी । हियेपर हाथ धरकर बतलाया कि मतलब समझ गये न ?

'आँखमें हँसने' का भाव हरिकविने यह बतलाया है कि "आखोंमें हँसकर अपना निश्चय राजीपना (प्रसन्नता) जतलाया, क्योंकि मुहँकी हाँसी झूठी भी है । नेत्रकी क्रिया सब सच्ची, प्रमाण—"झूटे जानि न समंह मनु मुँह निकम बैन"। (दोहा ४२१)

—अलङ्कार—"सूक्ष्म" या 'पिहित' ।

'प्रतापचन्द्रिका' में "आखोंके हँसने" से "चौथी विभावना" भी मानी है । "जो अकारन वस्तु तें कारज परगट होय"—



५०

न्हाय पहिरि पट उठि कियौ बैंदी मिस परनाम।
दृग चलाय घर कौं चली बिदा किये घनस्याम॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (न्हाय, पट पहिरि,)=(नायिकाने) स्नानकर, कपडे पहन और (उठि *)=उठकर (बैंदी मिस परनाम कियो)= बैंदी लगानेके बहाने, प्रणाम किया, (दृग † चलाय)—आँखें चलाकर (घनस्याम बिदा किये)= नायक-शिरोमणि (श्रीकृष्ण) बिदा कर दिये, और (घर कौ चली)— (स्वय भी) घरको चल दी।

घाटपर कोई नायिका न्हाने गयी, वही 'घनश्याम'भी आ मौजूद हुए, सो उस क्रियाविदग्धाने प्रणाम करके आँखके इशारेसे जताया कि यहा घाट बाटमें तो कृपा कीजिए, घर चलिए, मैं अभी आती हूँ, वहीं बातें होंगी !

"सूक्ष्मालंकार" और "पर्यायोक्ति" अलङ्कार। 'छेकानुप्रास और चकारसे "वृत्त्यनुप्रास"।

* "उठि"की जगह- "दृटि" पाठान्तर। दृटिकै—अवकरि करिकैं— देखि के। (हरिप्रकाश)

† दृग-की जगह "चष" (प्रतापचन्द्रिका)।



५१

चितवत जितवत हित हिये किये तिरीछे नैन।
भीजे तन दोऊ कँपैं क्यौंहूँ जप निबरै न॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (तिरीछे नैन किये, चितवत)—तिरछे नेत्र किए (एक दूसरेको) देख रहे हैं,(हित, हिये जितवत†)-प्रेम हृदयों-को जीत रहा है, अर्थात् दोनोंके मन प्रेमने जीत लिये हैं। (भीजे तन दोऊ कँपै)—भीगे शरीर दोनों काँप रहे हैं, पर (क्यौंहू जप न निबरै)—किसी प्रकार जप समाप्त होनेमें नहीं आता।

दोनों —प्रिय और प्रेयसी,— स्नान करके आमने सामने खड़े जप कर रहे हैं। वस्त्र गीले हैं, शरीर भीग रहे हैं, शीतसे दोनों काँप रहे हैं। शायद माघकी संक्रान्तिका सुपर्व है। तो भी जप समाप्त नहीं होता, क्योंकि तिरछी आखोंसे एक दूसरेको देख रहे हैं- आपसमें आखें सेक रहे हैं! प्रेमने हृदयोंको जीत लिया है, फिर शीतका ज्ञान किसे हो। और जपकी समाप्ति कैसे हो!

अलंकार—पूर्वार्द्धमें 'समासोक्ति' है। शीत, जपकी समाप्तिका हेतु है तो भी जप, न समाप्त हुआ, इससे उत्तरार्धमें "विशेषोक्ति"।

"विशेषोक्ति जो हेतु सों कारज उपजत नाहिं"

---

† "हिये हित जितवत— हियेमें जो हित है, ताको उत्कर्ष करे है, बढ़ावत है। किंवा, सीतभयो है तासों हितकों जितवत हैं-हितसों सीत को दबावत हैं। किंवा, हितके हृदय मन ताको बढ़ावत है," हरिप्रकाश

—" और "जितवत"का अर्थ 'जिधर'का लीजै तो यों कहिये- 'देखने हैं उतै, जितै हियेका हित है।" (रसचन्द्रिका)

तथा जप न समाप्त होनेका समर्थन "हित हिये जितवत" और 'तिरीछे नैन चितवत'से किया, इसलिये 'काव्यलिङ्ग' भी सम्भव है—

"काव्यलिङ्ग जय जुक्तिसों अर्थ समर्थन कीन।"

—जपके व्याजसे 'देखना' इष्ट सिद्ध किया। इसलिये "पर्यायोक्ति" भी है। 'तकार'की आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास"भी है।

इस दोहेके भावसे मिलती हुई गोवर्धनाचार्यकी एक आर्या है। —

"अन्योन्यमनु स्रोतसमन्यदथान्यतटात्तट भजतो।
उदितेऽर्केपि न माघस्नान प्रसमाप्यते यूनो ॥२९॥

× × ×

— यह जगह न्हानेके लिये अच्छी नहीं, वह अच्छी है, यह भी ठीक नहीं, वह ठीक है—इस प्रकार इस घाटसे उस घाटपर और उस घाटसे इस घाटपर फिरते फिरते, सूर्योदय होगया, पर तोभी युवा और युवतिकी जुगल-जोड़ीका 'माघस्नान' समाप्त नहीं हुआ।

सूर्योदयसे पहले पहले माघ-स्नानकी विधि है। पर इन्हें अपनी धुनमें इस बातकी चिन्ता कहां। नवयुवक प्रेमी भक्तोंको, 'अदृष्टफल'की अपेक्षा 'दृष्टफल' अधिक प्रिय है। इसका प्रमाण यह माघस्नायी जोड़ा है। हाँ यदि दृष्टलाभकी प्राप्ति होती हो तो इसके लिये 'अदृष्ट' साधनोंको भी काममें ला सकते हैं। इसका उदाहरण वह (५१ वें दोहे की) जप करने वाली जुगल जोड़ी है।



५२

मुंह धोवति एड़ी घसति हँसति अनँगवति तीर।
धसति न इन्दीवर-नयन कालिन्दी के नीर॥

(सखीका वचन नायिकासे या सखीसे)—

अर्थ — (तीर)— किनारे पर (मुंह धोवति)— मुंह धो रही है, (एडी घसति)— एड़ियाँ रगड रही है, और (हँसति)— अकारण हँस रही है। परन्तु (इन्दीवर-नयन, अनँगवति)— नीलकमलके तुल्य आखोंवाली यह 'अनँगवती'— प्रेमपरवशा नायिका, (कालिन्दीके नीर न धसति)—जमना-के जलमें नहीं धसती।

निकटस्थ नायकको देखनेका अच्छी तरह अवसर मिले, इसलिये, स्नानावतीर्णा नायिका, किनारेपर, यैठी बार बार मुंह धोने, और एडी रगडनेके बहाने— (एडी बिल-कुल साफ है, मैलका कहीं नाम नहीं, पर ऐसे रगड रही है मानो मैल छुडा रही है!)— देर कर रही है, न्हानेके लिये पानीमें नहीं धसती। यह देखकर, उसकी चेष्टाको समझनेवाली सखी, छेडनेके लिये कहती है कि तू यह क्या तमाशा कर रही है! कभी मुंह धोने लगती है, कभी एडी घिसने लगी है, कभी बिना कारण हँसने लगी है! अनङ्गवति! [1] (चुभता हुआ सम्बोधन!) क्यों इतराती

[1] हरिकविने "अनगवत" पाठ रखकर अर्थ किया है, "और तीरमें 'अनगवति है विलम्ब करती है। किंवा—तीरमें अनंग कामतुल्य जो है नायक ता को देखिकैं नीर मैं नाहीं धसति है"—
'प्रतापचन्द्रिका'में— "अनँगवति" इतरावे को कहै है"—है!

फिरे है! जमनामें धसकर जल्दीसे न्हा क्यों नहीं लेती!

अलङ्कार—"इन्दीवर-नयन" में "वाचकधर्म-लुप्तोपमालङ्कार।" नयन, उपमेय। इन्दीवर, उपमान। वाचक और धर्म दोनों लुप्त।

अथवा, एक सखी दूसरी सखीसे नायिकाकी इस चेष्टाका वर्णन कर रही है तो "स्वभावोक्ति" बहुत बढ़िया। और "कारक दीपक" भी बहुत अच्छा।—धोवति, धसति, आदि सब क्रियाओंको एक ही कर्तृकारक (नायिका) प्रकाशित कर रही है। 'तकार'की तकरारसे (आवृत्तिसे) "वृत्त्यनुप्रास" भी है।



५३

नहि अन्हाय नहि जाय घर चित चिहुंट्यौ तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति विहँसति धसति न नीर॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(नहि अन्हाय)—न न्हाती है, 'नहीं घर जाय)—न घर जाती है (तीर तकि चित चिहुंट्यौ* —तीरको ताक कर—तीरस्थ नायकको देख कर—चित्त चिपक गया—आसक्त हो गया। (परसि)—जल छूकर (फुरहरी लै फिरति)—फुरहरी—कँपकँपी लेती फिरती है—उल्टे पाव लौटती है—(विहँसति)—हँसती है, और (नीर न धसति)—पानीमें नहीं धसती।

* "चुहुट्यौ" है—लागि गयो है। (ह० प्र०) तीरस्थ नायकने नायिकाका चित्त 'चिहुंट लिया'—हर लिया है (रसचन्द्रिका)

इसकी दशा भी बिलकुल वैसी ही है जैसी इससे पहले दोहे वालीकी है। वह मुह धोने और एडी घिसनेके बहानेसे देर लगा रही है यह पानीको छूकर ही कांप रही है, मानो पानी इतना ठंडा है कि छूते ही कपकँपी चढती है— इससे न्हानेकी हिम्मत नहीं पडती। पानी छूती है, और काँपकर हँसती हुई पीछे हट आती है! —

(क्रियाविदग्धा) परकीया नायिका। विलास- हाव। अलङ्कार— "स्वभावोक्ति"। "पर्यायोक्ति"। "कारक दीपक"। सब स्पष्ट चमक रहे हैं।

इस दोहेका यह अनुवाद 'यशवन्तयशोभूषण'में "स्वभावोक्ति" के उदाहरण में है —

"न स्नाति न गृहं याति, नायकासक्तमानसा।
निशन्तीव परावृत्ता चकिताऽऽपो न गाहते॥"



५४

चितई ललचौहैं चखनि डटि घूंघट पट माहिँ।
छलसौं चली छुवाय कै छनक छबीली छाहिँ॥

(नायकका वचन सखीसे)—

अर्थ— (घूंघट पट माहिँ डटि ❀)— घूंघटकी ओटमेंसे डटकर—अच्छी तरह निगाह जमाकर, (ललचौंहैं चखनि चितई)—ललचाई हुई आंखोंसे देखा। (छबीली)—छबीली

❀ "डटि कै"—घट करि कै—इमे लक्षित करिके। (हरिप्रकाश)

नायिका, (छलसों छनक छाहिँ छुवाय कै चली)—नहानेसे थोड़ी देरतक अपनी छाह छुवाती हुई चली।

नायक नायिका कहीं रास्तेमें आते जाते मिल गये हैं। और "अमिल संग साथ" है। मिलने भेटनेका मौका नहीं है, तो भी क्रियाविदग्धा नायिकाने घूघटकी ओटमें, ललचौहीं आँखे लड़ा दीं! देखनेका कार्य तो सिद्ध हो गया, आँखे आपसमें मिल लीं। रहा, अङ्गालिङ्गन! सो एक ढंगसे छाँहपर छाह डालकर यह इच्छा भी पूरी करलो। 'विम्ब' न मिल सके, 'प्रतिविम्ब' ही मिल लिये।

छाह छुवानेका यह भाव भी है कि मुझे अपनी छांहकी तरह समझो, जुदा मत जानो। अथवा हमारा-'मन' तुम्हारे तनसे छायाके समान लग रहा है।

नायिकाके क्रियानुभाव और नायकके वचनानुभावसे अभिलाष सञ्चारी।

"क्रियाविदग्धा—और "वचनविदग्धा"नायिका" —

"वचन क्रियामें चातुरी करे जु प्रीतम हेन।
ताहि विदग्धा कहत हैं वचनरु क्रिया समेत॥"

अलङ्कार— 'समासोक्ति'। 'सूक्ष्म'। 'कारक दीपक'। 'वृत्त्यनुप्रास'।

परापवाद-शङ्किता-वर्णन

५५

लाज गहौ बेकाज कत घेर रहे घर जाहिँ ।
गोरस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहिँ ॥

(दान-लीला† में गोपीका वचन कृष्णसे)—

अर्थ—(लाज गहो)—लज्जा ग्रहण करो, शरमाओ (बेकाज कत घेर रहे ।)—बेकाज क्यों घेर रहे हो ? हटो, (घर जाहिँ)—हम घर जाती हैं । (गोरस चाहत फिरत हो)—तुम 'गोरस'—नेत्ररस—(देखना) या वाणीरस—'बतरस'—चाहते फिरते हो, गोरस—दूध, दही या मक्खन— नहीं चाहते !

किसी गोपीको 'दान' के लिये श्रीकृष्ण घेरे खड़े हैं, वह एक बार दान दे चुकी है, फिर मांगते हैं, या कम बताकर और मांगते हैं, वह कहती है कि तुम्हें लाज नहीं आती ! एक बार ले चुके फिर मांगते हो ! क्यों व्यर्थ घेरे खड़े हो, परे हटो, घर जाने दो । तुम "गोरस"—दही मक्खन—थोड़ेही चाहते हो, तुम्हें तो गोरस—इन्द्रियोंके रसका चसका है !

अलङ्कार—"पर्यायोक्ति" । पूर्वार्द्ध में 'अनुप्रास'—उत्तरार्द्ध में 'गोरस-गोरस' यमक ।

"न्यारे न्यारे अर्थ पद इकस "यमक" बखान ।
'गोरस' पद द्वै भिन अरथ वाणीरस-दधि जान ॥" (अमरचन्द्रिका)

† "दानलीला"—'दान' का अर्थ यहाँ सम्प्रदान कारकवाला 'दान' नहीं है, किन्तु दान टैक्स (Tax) चुंगीके महसूल या राजकीय कर का नाम है । पहले समयमें जो लोग इस कामपर नियुक्त होते थे वे 'दानी' कहलाते थे । राजपूतानेकी ओर अब तक कुछ लोगोंकी यह संज्ञा-चली आती है ।

हरिकविने इसे नायकके प्रति स्वयंदूतीको उक्तिमें भी लगाया है । यथा—

'लाज गहो' तुम गोंके मनकी बात नहीं जानत हो, या तें अनभिज्ञताका लाज गहो (अपनी अनभिज्ञतापर कुछ तो लज्जित हो !) फरि कछु प्रकट करि कहै है—"बेकाज कत घेर रहे ?" जो कुछ तुम्हें कर्तव्य होय सो करो, अर्थात् हमें वनमें ले चलो । या ठोरमें हमें रोको हौ, कोई देखे तो "घर जाहि" घर जातो रहैगो, घर हममें छूटि है । तुम गोरस— दूध दही चाहते फिरत हो, गोरस— इन्द्रियन को रस नहीं चाहत हौ । जो इन्द्रियनको रस चाहत हो तो मिलो, यह ध्वनि । जामें ध्वनि होय सो उत्तम काव्य।"

(हरिप्रकाश)

इस विषयपर एक सुन्दर 'सवैया' सुजान "रसखानका" भी सुनने योग्य है —

'छीर जो चाहत चीर गहे ए जू ! लेहु न केतक छीर अचैहौं,
चाखनके मिस माखन मागत खाहु न माखन केतक लैहौं।
जानत हौं जिय की 'रसखानि' सु काहे को एतिक बात बढैहौ,
गोरसके मिस जो रस चाहत सो रस कान्हजू ! नेकु न पैहौ।।"

५६

सबही तन समुहाति छन चलति सबनि दै पीठि
वाही तन ठहराति यह किबलनुमा लौं दीठि ।

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (सब हीं तन, छन,)

जरा देर सामने होती है, (सबनि पीठि दै चलति)—फिर सबको पीठ देकर चल देती है। (किबलनुमा लौं)—किबलेनुमा की तरह (यह दीठि)— यह दृष्टि, (वाही तन ठहराति)— उसीकी ओर ठहरती है।

बहुतसे आदमियोंकी भीड़में— नायिका, नायकको देख रही है, या वह इसे देख रहा है, नजर जमाकर एकटक देखनेसे प्रेमका भेद न खुल जाय, इसलिये बीच बीचमें इधर उधर भी उड़ती निगाह— गलत अन्दाज नजर— डाल ली जाती है, पर और जगह निगाह जमती नहीं, ठहरती है वहीं आकर्षक प्रेमपात्र पर आकर। किबलेनुमाकी सुईका मुह घुमाकर चाहे जिधर फेरो, पर वह रुकता है पश्चिमकी ओर चुम्बकके पास ही आकर।

बड़ी ही अद्भुत उपमा है, सचमुच ही "पूर्णोपमा" है। —"दीठि" (दृष्टि) उपमेय। "किबलानुमा" उपमान। 'लौं' वाचक। 'समुहाना' धर्म।

"दीठि जान उपमेय है, 'किबलनुमा' उपमान।
"लौ वाचक 'समुहनि' धरम, पूरन उपमा जान।"

(अमरचन्द्रिका)

बिहारीकी इस "किबलानुमा"की उपमाको "रतनहजारा" के कर्ता "रसनिधि"*ने भी लिया है। यथा—

"अपनों सो इन पै जितौ लाज चलावत जोर।
किबलनुमा लौं दृग रहैं निरखि मीतकी ओर॥५८२॥

* 'रसनिधि' सेहुडा— (दतिया) के राजा थे। बड़े भक्तजन और कवि थे। इनका रतनहजारा बहुत अच्छा ग्रन्थ है। सतसईके ढंगपर इसमें एक हजार दोहे हैं। सुना है उनका बनाया एक बहुत बड़ा ग्रन्थ "रसनिधि-सागर" भी है।

हरिकविने इसे नायकके प्रति स्वयंदूतीकी उक्तिमें भी लगाया है। यथा—

'लाज गहो' तुम मोंके मनकी बात नहीं जानत हो, या तें अनभिज्ञताकी लाज गहो (अपनी अनभिज्ञतापर कुछ तो लज्जित हो!) फेरि कछु प्रकट करि कहे है—"विकाज कत घेर रहे ?" जो कुछ तुम्हें कर्तव्य होय सो करो, अर्थात् हमें वनमें ले चलो। या ठौरमें हमें रोको हो, कोई देखे तो "घर जाहिं" घर जातो रहैगो, घर इसमें त्रुटि है। तुम गोरस— दूध दही चाहते फिरत हो, गोरस— इन्द्रियन को रस नहीं चाहत हो। जो इन्द्रियनको रस चाहत हो तो मिलो, यह ध्वनि। जामें ध्वनि होय सो उत्तम काव्य।"

(हरिप्रकाश)

इस विषयपर एक सुन्दर 'सवैया' सुजान "रसखानका" भी सुनने योग्य है —

'छीर जो चाहत चीर गहै ए जू! लेहु न केतक छीर अचैहौं,
चाखनके मिस माखन मागत खाहु न माखन केतक खैहौं।
जानत हौं जिय की 'रसखानि' सु काहे को एतिक बात बढ़ैहौं,
गोरसके मिस जो रस चाहत सो रस कान्हजू! नेकु न पैहौं॥"



५६

सबही तन समुहाति छन चलति सबनि दै पीठि।
वाही तन ठहराति यह किबलनुमा लौं दीठि॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ.—(सब हीं तन, छन समुहाति)—सबकी तरफ

ज़रा देर सामने होती है, (सबनि पीठि दै चलति)—फिर सबको पीठ देकर चल देती है। (किबलनुमा लौं)—किब्लेनुमा की तरह (यह दीठि)— यह दृष्टि, (वाही तन ठहराति)— उसीकी ओर ठहरती है।

बहुतसे आदमियोंकी भीड़में— नायिका, नायकको देख रही है, या वह इसे देख रहा है, नज़र जमाकर एकटक देखनेसे प्रेमका भेद न खुल जाय, इसलिये बीच बीचमें इधर उधर भी उड़ती निगाह— गलत अन्दाज़ नज़र— डाल ली जाती है, पर और जगह निगाह जमती नहीं, ठहरती है वहीं आकर्षक प्रेमपात्र पर आकर। किबलेनुमाकी सुईका मुह घुमाकर चाहे जिधर फेरो, पर वह रुकता है पश्चिमकी ओर चुम्बकके पास ही आकर।

बड़ी ही अद्भुत उपमा है, सचमुच ही "पूर्णोपमा" है।

—"दीठि' (दृष्टि) उपमेय। "किबलानुमा" उपमान। 'लौं' वाचक। 'समुहाना' धर्म।

"दीठि जान उपमेय है, 'किब्लनुमा' उपमान।
"लौं वाचक 'समुहनि' धरम, पूरन उपमा जान।"

(अलंकारचन्द्रिका)

विहारीकी इस "किबलानुमा"की उपमाको "रतनहज़ारा" के कर्त्ता "रसनिधि"* ने भी लिया है। यथा —

'अपनों सो इन पै नितौ लाज चलावत जोर।
कबलनुमा लौं दृग रहें निरखि मीतकी ओर ॥५०२॥

* 'रसनिधि' सेहुडा— (दतिया) के राजा थे। बड़े भक्त और कवि थे। इनका रतनहज़ारा बहुत अच्छा ग्रन्थ है। सतसईके ढंगपर इसमें एक हजार दोहे हैं। सुना है उनका बनाया एक बहुत बड़ा ग्रन्थ "रसनिधि-सागर" भी है।

—परन्तु बिहारीके दोहेमें और इसमें उतना ही फर्क है जितना असली और नकलीमें होता है।

'रतनहजारा'में और शृङ्गारसप्तशतीमें, बिहारी सतसईके अनेक दोहोंकी इसीप्रकार नकल है, जो यथास्थान उद्धृत करके दिखाये जायँगे। बिहारीने भी संस्कृत पद्योंकी कहीं कहीं छाया ली है, पर उन्होंने उस छायाको अपने प्रतिभा-प्रकाशसे ऐसा चमकाया है कि उसके प्रकाशके आगे 'आदर्श पद्य' कहीं कहीं 'छाया' प्रतीत होने लगे हैं। उनके दोहे प्रायः आदर्श पद्योंसे आगे बढ़ गये हैं। जहां कहीं आगे नहीं बढे तो वहां पीछे भी नहीं रहे, परन्तु बिहारीके दोहोंका हिन्दीमें जिस कविने भी अनुकरण किया है, वह उनसे आगे तो क्या, बराबरीको भी नहीं पहुंच सका। इसका परिचय कई जगह मिलेगा। अस्तु।

इस दोहेके भावसे मिलती हुई गोवर्धनाचार्य्यकी ए 'आर्या' है,—

"त्वय्येवासक्तास्ति सेति सखी नायक वक्ति—"

"एकैकशो युवजन विलङ्घमानाऽक्षनिकरमिव तरला।
विश्राम्यति सुभग! त्वामङ्गुलिरासाद्य मेरुमिव ॥१४४॥

—हे सुभग! यह नायिका एक एक युवजनको लांघती—छोड़ती—हुई तुम्हींपर आकर ठहरती है, जैसे जप करते समय उंगली मालाके सब दानों परसे टारती हुई सुमेरुपर—मालाके बड़े दाने पर—जाकर रुक जाती है।

—"मेरोलङ्घन न कार्य्यमिति जापकसम्प्रदाय।"

—जप करते समय सुमेरके दानेका उल्लङ्घन न करना चाहिये, अर्थात् सुमेरके आगे उँगली न बढानी चाहिये, वहीं रोक देनी चाहिये, ऐसा नियम है।

मेरुमणिका उल्लङ्घन, चाहे 'जापकसम्प्रदाय'को न जानने

न मानने वाली कोई उंगली कर भी जाय, पर "किबलानुमा" की सुई अपनी आकर्षणी दिशाको छोड़कर कहीं और नहीं मुड़ सकती।

दोहे और इस आर्य्याके भावमें बहुत साम्य है। पर बिहारीने "किबलानुमा"की नयी और फड़कती हुई उपमा देकर दोहेमें एक नवीनता और चमत्कृति उत्पन्न कर दी है।

किबलानुमा —

—एक दिक् सूचक यन्त्र होता है। उसे "कुतुबनुमा"भी कहते हैं। "किबलानुमा"का अर्थ है–किबलेको दिखानेवाला। मुसलमान लोग किबले की ओर–(जो पश्चिममें है)– मुंह करके नमाज पढ़ते हैं। किबलेकी दिशा मालूम करनेके लिये इस यन्त्रको काममें लाते हैं। जिस यन्त्रमें सुईका सिर कुतुब–(उत्तर ध्रुव)की ओर रहे, उसे 'कुतुबनुमा' (ध्रुव-दर्शक) कहते हैं। 'किबलानुमा'में सुईकी जगह प्राय एक लोहेकी चिड़िया † लगी रहती है, जैसा कि 'हरिकवि' और 'लल्लूलालजी'ने लिखा है और जैसा उर्दूके महाकवि "सौदा" और 'मीरदर्द'के इन अनुपम पद्योंमें (शेरोंमें) वर्णन है —

"नावकने तेरे सैद न छोड़ा जमानेमें।
तड़पे है मुर्गे-किबलानुमा आशियानेमें॥" (सौदा)

†"किबलनुमा—कहे हैं एक लोहेका पक्षी डिबिया के [या] अगूठीमें रहता है। उसे जिधर चाहो तिधर फेरो, पर वह ठहरता है पश्चिम ही के सन्मुख।" (लालचन्द्रिका)

"कोबलनुमा—लोहेकी पूतरी, अगूठीमें रहति है। पच्छिमकी खानि (ओर) को चुम्बक यामें लग्यो रहत है। कोई तरफ पूतरीको फेरे तौभी पच्छिम तरफकों याको सिर रहै।" (हरिप्रकाश)

—तेरे 'नावक'—वाण—ने ससारमें कोई "सैद"—शिकार, लक्ष्य— नहीं छोड़ा (सबको तीर-नजरसे—नयन-वाण-से बींधकर रख दिया !) यहांतक कि "किबलानुमा"की चिड़िया भी डिबियाके घोंसलेमें पड़ी तड़प रही है !

—किसी धनुर्धारी शिकारीकी प्रशसामें भी इसे समझ सकते हैं।

"क्या कम है मुर्गे-किबलानुमासे य मुर्गे-दिल।
सिजदा उधर ही कीजिए जीधर ये मुँह करे॥" (दर्द



५७

खरी भोर हू भेदिकै कित हू ह्वै इत आय।
फिरै दीठि जुरि दीठि सौं सबकी दीठि बचाय॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(खरी भोरहू भेदिकै)—बड़ी भीड़को भी फाड़कर (कित हू ह्वै)—किधरसे भी होकर —निकलकर— (इत आय)— इधर—यहा नायककी ओर—आकर, (सबकी दीठि बचाय)— सबकी दृष्टि बचाकर, (दीठि)—नायिकाकी दृष्टि (दीठि सौं जुरि फिरै)—नायककी दृष्टिसे जुड़कर—मिल भेटकर— फिरती है।

सबकी दृष्टि बचाती और जहासे रास्ता मिला—सीधा या चक्करसे—भारी भीड़को चीरती फाड़ती हुई, नायिकाकी दृष्टि नायककी दृष्टिसे आ मिलती है, और फिर लौट जाती है। सारी भीड़को चीरकर, सबकी नजर बचाकर, अपने लक्ष्य पर आ लगना और फिर साफ लौट जाना—किसीको मालूम तक न होना— बड़ी बहादुरी और सफाईका काम है !

क्रियाविदग्धा परकीया नायिका। कटाक्षविक्षेप, अनुभावसे अनुराग व्यङ्ग्य। अलंकार— "विभावना"। और 'दीठि' पदसे 'लाटानुप्रास'—

"काज होत प्रतिबन्ध जहँ प्रतिछ विभावन सोय।
और बाधक ही प्रतछ हूँ दरस काज सिध होय॥" (अमरचन्द्रिका)

'रसिकेस' कविने इस दोहेके भावको इस सवैयेके साँचेमें ढाला है—

"भेदिनै भीर इती बिन ह्वै के सु आवत जात न रच लखावे,
आख ये आपस में मिलिकै जन लालनकी बहु आख दुरावे।
ह्वै है कहा चतुराई घनी 'रसिकेस' दुहूँ मन मोद बढ़ावे,
दीठि सों दीठि जुरी ही फिरे सब ही की बसीठि लौं दीठि बचावे॥"



५८

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात
भरे भौन में करत हैं नैननि हीं सब बात॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(कहत)—कहते हैं, (नटत)—नटते हैं,—मना करते हैं, (रीझत)—रीझते—प्रसन्न होते हैं, (खिझत) खिजते—नाराज होते हैं, (मिलत)—मिलते हैं, (खिलत)—खुशीसे खिलते—फूलते—हैं और (लजियात)—लजाते—शरमाते हैं—इस प्रकार (भरे भौन में) —आदमियोंसे— भरे हुए मकानमें, (नैननि हीं सब बात करत हैं)—नेत्रोंहीमें सब बातें करते हैं।

मकान आदमियोंसे भरा हुआ है, बातचीत करनेका मौका नहीं है, इसलिये नायक नायिका ज़बानका काम आंखोंके इशारोंसे ले रहे हैं। नायक संकेत-स्थलमे चलनेके लिये आंखके इशारेसे कहता है। नायिका मना करती है। वह मना करनेकी अदा (भाव)को देखकर प्रसन्न होता है, इसपर वह कुछ नाराज होती है, कि कोई इस इशारेबाजीको ताड न जाय। फिर आंखे चार होती हैं, और नायिका लज्जित हो जाती है।

अलंकार—तीसरी विभावना, प्रतिबन्धक भीडके होते भी बेमालूम बाते हो गयी।

"भरयो भोन बाधक तऊ काज होत सुख बात।"—(अमरचन्द्रिका)

या चौथी विभावना—अकारण—(बात करनेका 'कारण' साधन—वाणी है आप नहीं) आंखोंसे बातें हो गयी।

पूर्वार्द्धमे कारक दीपक। तकारसे 'वृत्त्यनुप्रास'।

संस्कृत "यशवन्त-यशोभूषण" में इस दोहेका, यह अनुवाद उसके "प्रतीपालकार" के उदाहरणमे है—

"मतो निषेधतश्चैव तुष्यत कुप्यतस्तथा।
नयनैरेव कुरुतो वार्ता तौ दम्पती रसात्॥"



५६

दीठि बरत बांधी अटनि चढि आवत न डरात।
इत उततैं चित दुहुनि के नट लौं आवत जात॥

(सखीका वचन सखीसे)–

अर्थ — (दीठि बरत)– दृष्टिरूप बरत– रस्सी, (अटनि बांधी)– अटारियोंपर बांधी है (चढि आवत, न डरात)– उसपर चढकर आते हैं, डरते नहीं। (दुहुनि के चित)– दोनोंके चित्त (इत उततें)– इधरसे उधरसे— दोनों ओरसे–(नट लौं आवत जात) – नटकी तरह आते जाते हैं।

नायक नायिका आमने सामने अटारियोंपर चढे एक दूसरे को देख रहे हैं। इसकी उपमा कवि, "रस्सीपर चढकर नटके चलने"– से देता है। नट, एक लंबी बरत (बरत्रा) वृक्षोंमें या ऊँचे बाँसोंमें बाधकर उसपर चलते हैं— इस तरह कि एक नट इधरसे जाता है, एक उधरसे आता है। और बेखटके दोनों साफ निकले चले जाते हैं। यहा दोहेमें—दोनोंकी दृष्टिही एक बरत है, जिसपर दो नटोंकी तरह दोनोंके, चित्त (मन) इधर उधरसे आते जाते हैं। नट अपने अभ्यास-बलसे गिरनेसे नहीं डरते। इन्हें भी अपनी मस्तीमें इस बातका डर नहीं, कि इस दशामें कोई देख लेगा तो क्या होगा!

आश्चर्य्य सञ्चारी भाव। अलङ्कार —दीठि-बरतमें 'रूपक'। 'पूर्णोपमा'–'मन' उपमेय। 'नट' उपमान। 'लौं' वाचक। 'आना जाना'— साधारण धर्म।

'अमरचन्द्रिका'में इस दोहेपर यह प्रश्नोत्तर है —

प्रश्न—"नट आवत फिरि जात नहिं जात सु बनत न मान।
उत्तर—सनै सनै आवन सु तिहि कहै सु आवन जान॥
"चित नट लौं आवत। पूर्णोपमा। हरै हरै आवनो जाय है।"

अर्थात्– यहाँ जो नटका 'आना जाना' कहा है, वह नहीं बनता। क्योंकि नट आ तो सकताहै पर उलटा फिर नहीं सकता। इसलिये 'आवत जात'का अर्थ है "शनै,शनै.– हौले हौले–आता है।"

इसपर 'रसचन्द्रिका'मे लिखा है—

–"जो अच्छे नट होइ हैं, ते आवत भी है और पिछल पाइन जाते भी है।"

और फिर यहाँ तो एक नही दो नट हैं— "चित दुहुनिके" से स्पष्ट है कि दो नटोकी तरह दोनोंके चित्त 'इत उत'— इधर उधर— से "आवत जात" हैं!

यदि दृष्टिकी वरतके समान— (दोनोंकी दृष्टिही एक वरत है) दोनोंका चित्त भी कविको एकही कहना अभिप्रेत होता, तो 'दुहुनिके'की जगह 'दुहुनिका' पाठ होता। दो नट एक ही साथ आमने सामनेसे एक वरतपर, शनै शनै नहीं अच्छी तरह झपटकर चले और न डरे न गिरें, तब तो आश्चर्य और प्रशसाकी वात है। हौले हौले एक ही नट सिर्फ़ एक ओर ही जा सके तो इसमें कुछ नटकी तारीफ नहीं। 'रसचन्द्रिका'का कथन बिलकुल ठीक है कि "जो अच्छे नट होते हैं वे आते भी हैं और पिछले पाँव लौट भी जाते हैं"– विहारी भी ऐसे ही सुनिपुण मनचले (साक्षात् मनरूपी!) नटोंका वर्णन करते हैं। हौले हौले 'जू' की तरह रींगनेवाले डरपोक रद्दी नटोंका नहीं!

इस दोहेका अनुवाद 'यशवन्तयशोभूषण'में 'प्रत्यनीक' अलङ्कारके उदाहरणमें यह है —

"परम्परालोकनरज्जुरेषा हट्टान्तरादट्टभुवि प्रबद्धा।
गतागतं निर्भयमत्र यूनोर्नटौ विधत्तो मनसी नितान्तम्॥"

६०

कंजनयनि मंजन किये बैठो ब्यौरति बार ।
कच अँगुरिन बिच दीठि दै चितवति नन्दकुमार ॥

(सखीका वचन सखीसे)

अर्थ—(कंजनयनि)—कमलनयनी नारी, (मंजन किये, बैठी बार ब्यौरति)—मज्जन—स्नान—किए बैठी बाल(केश) सुलझा रही है (कच अँगुरिन बिच, दीठि दे)—बालों और उँगलियोंके बीचमें दृष्टि देकर (नन्दकुमार चितवति *)—नन्दकुमार—श्रीकृष्णको देख रही है ।

नायिका स्नान कर बाल सँवारने बैठी है, कंघी कर रही है । सामने ही कहीं नन्दकिशोरजी भी विराजमान हैं, सो उँगली और बालोंके बीच नजर डाले उन्हें देख रही है । यहाँ बाल सुलझ रहे हैं, वहा नयन उलझ रहे हैं । बाल सँवारनेके बहाने उन्हें देख रही है । इससे "पर्यायोक्ति" साफ ही है ।

'प्रतापचन्द्रिका' के मतसे 'कंजनयनि' में "धर्मवाचक-लुप्तोपमा" है । कज उपमान । नयन उपमेय । वाचक और 'धर्म' नदारद । "स्वभावोक्ति" भी स्पष्ट है ।

इसी भावकी एक आर्या "आर्या-सप्तशती"में है । यथा,—

"काचित् कञ्चिद् वक्ति"—

"चिकुर-विसारण-तिर्यङ्नत-कण्ठी विमुख-वृत्तिः बाला ।
त्वामियमगुलि-कल्पित-कचावकाशा विलोकयति ॥२३२॥"

* "निरखति नन्दकुमार" —किया- नायिका [illegible] या कहति [illegible] कुमार । कच अगुरिन बिच दीठि दैकै हमारी 'नन्द' [illegible] कैसे मो [illegible] है । किंवा—नायिका वचन सखी सों—हमारी जो [illegible] 'नन्द' [illegible] रको निरखति है ।"

[illegible]

—कोई सखी किसी नायकसे कहती है कि—बाल सँवारनेमें गरदनको तिरछी किए, पीठ फेरे हुए भी, उंगलियों और बालों के बीचमें देखनेकी जगह बनाकर यह तुम्हें देख रही है !

कितना सादृश्य है !— " चिकुर-विमारण " (केश-परिष्करण) "ब्यौरति बार" । 'अङ्गुलिकल्पित-कचावकाशा' और 'कच अँगुरिन बिच दीठि दै' "विलोकयति' और 'चितवति' दोनो जगह एक हैं !

इसी आर्याकी छायापर इस दोहेकी रचना हुई है तो भी "नन्दकुमार" की कृपासे बिहारी इस मैदानमें गोवर्धनसे पीछे नहीं रहे, बल्कि माधुर्यमें कुछ आगे बढ़ गये हैं ! पढनेवालेकी ज़बान और सुननेवालेके कान इसमें साक्षी हैं !



६१

जुरे दुहुनि के दृग झमकि रुके न झीने चीर।
हलको फौज हरौल ज्यों परत गोल पर भीर॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(दुहुनिके दृग)— दोनोंके नेत्र (झमकि जुरे)—झपटकर जल्दीसे—आपसमें भिड गये । (झीने चीर न रुके)—बारीक वस्त्रके घूंघटमें न रुके । (ज्यों हलकी हरौल *)—जैसे अगली फौज निर्बल और थोड़ी होनेपर (गोल† पर भीर परत)—गोल-सेनाके मध्यस्थित प्रधान भागपर—भीड (विपत्ति) पड़ती है !

* हरौल या हरावल, सेनाके उस भागको कहते हैं जो सबमें आगे रहता है । अँग्रेजीमें शायद इसीका रूपान्तर Herald है ।

† "गोलकी फौज जो है बड़ी फौज" (हरिप्रकाश)

नायिका बारीक चीरसे मुह ढके है, सामने नायक डटे हैं। चीरको चीरकर दोनोंके नेत्र-भट आपसमें भिड गये हैं। इस घटनाको कविने दो सेनाओंके भिडनेका दृष्टान्त देकर कविताका रूप दिया है।

अलङ्कार—'दृष्टान्त'। हूलकी हरौलमें 'छेकानुप्रास'। लकारकी आवृत्तिसे "वृत्त्यनुप्रास" है।

"चेद्बिम्ब-प्रतिबिम्बत्व दृष्टान्तस्तदलङ्कृति।" (कुवलयानन्द)

"जहा एक बातमें एक बातकी छाया परै—

"भाव बिम्ब प्रतिबिम्बको दृष्टान्त सुनेहै नाम।" (हरिप्रकाश)

जहा उपमान और उपमेयके भिन्न भाव, बिम्ब प्रतिबिम्ब-भावसे दिखलाई दें, वह "दृष्टान्त" अलंकार है। जैसे यहाँ 'उपमेय' नेत्रोंके मिलने और 'उपमान' सेनाके भिडनेके भिन्न भावोंका परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

"भाव बिम्ब प्रतिबिम्बको दृष्टान्त सुकवि धीर।
मिले मुग्ध, दृष्टान्त ज्यों परति गोलपर भीर॥" (अमरचन्द्रिका)

इस दोहेपर अमरचन्द्रिकामें कोई दस दोहोंमें प्रश्नोत्तर है, जिसका संक्षेप यह है —

प्रश्न—"नायिकाकी ओर तो चीरकी 'हरौल' है, पर नायकके पास कौन हरौल है? अर्थात् नायकके नेत्र-भट नायिकाके चीररूप 'हरौल' को हटाकर जा मिले, पर नायिकाके नेत्र-भटोंने दूसरी ओरकी किस हरौलको हटाकर गोल- (नायकके नेत्ररूप मुख्य सेना-भाग) - पर धावा किया? नायिकाकी नेत्र-सेना अपनी हरौल (चीर) को स्वय तो हटावेगी नहीं, कोई सेना अपनी हरौलको स्वय आगेसे हटाकर या रोककर नहीं बढ़ती, इसलिये दूसरी ओर भी एक 'हरौल' होनी चाहिये। एक ओरकी 'हरौल' दोनों ओरकी 'हरौल' नहीं हो सकती।"

३— "विशेषोक्ति"— भीड, रोकनेका पुष्कल कारण है, पर रुकना कार्य नहीं हुआ।

४— आँख वहीं चलकर पहुचती हैं, और जगह नहीं, इससे "परिसङ्ख्या" (प्रताप-मते)

'सुभट सकै' से "छेकानुप्रास" भी।



६३

ऐंचति सी चितवनि चितै भई ओट अरसाय।
फिर उझकनिकौ मृगनयनि दृगनि लगनियाँ लाय॥

(नायकका वचन सखीसे)—

अर्थ,—(ऐंचति सी, चितवनि, चितै)— खींचती हुई सी चितवन— दृष्टि से देख कर, (अरसाय ओट भई)—ऐंडती अंगड़ाती हुई अलसानेकी अदा—(अनुभाव)से (ओट भई)— झरोखे या दीवारकी आड़में हो गयी। (मृगनयनिक्ष)—

३— "विशेषोक्ति"— भीड, रोकनेका पुष्कल कारण है, पर रुकना कार्य नही हुआ।

४— आँख वहीं चलकर पहुचती हैं, और जगह नहीं, इससे "परिसङ्ख्या" (प्रताप-मते)

'सुभट सकै' से "छेकानुप्रास" भी।



६३

ऐंचति सी चितवनि चितै भई ओट अरसाय।
फिर उझकनिकौ मृगनयनि दृगनि लगनियाँ लाय॥

(नायकका वचन सखीसे)—

अर्थ —(ऐंचति सी, चितवनि, चितै)— खींचती हुई सी चितवन — दृष्टि से देख कर, (अरसाय ओट भई)—ऐंडती अंगडाती हुई अलसानेकी अदा—(अनुभाव)से (ओट भई)— सखीकी या दीवारकी आडमें हो गयी। (मृगनयनि*)— नायिकाने (फिर उझकनिकौ)— फिर झांकने या उचक-कर देखनेका (दृगनि लगनियाँ लाय)— आखोंको झांसा दे दिया, या लाग लगा दी। मृगनयनी आखोंको इस-प्रकार देखनेका झासा देकर ओटमें हो गयी।

* "नायिका अपनी हकीकत कहै तो 'मृगनयनी' सखीका सम्बोधन)।

—इस नजरसे देखा कि देखने वालेको खींच लिया ! और इस अदासे देखा कि वह फिर उस 'देखने'को देखने-की आशा लगाए है । फिर देखनेकी टोहमें उधर खड़ा देख रहा है कि ओटसे निकल कर, फिर उसी चितवनसे देखेगी ।

नायिका परकीया । अभिलाषा, शङ्का, सञ्चारी भाव । अलसाना— अनुभाव ।

अलङ्कार—"अनुमान" (अमरचन्द्रिकाके मतमें) यथा —

"मो चितवन को ऐंचि लिय, जानी चाहति मोहि ।
यात फिर यह झाकि है 'अनुमान' सु यह टोहि ॥"

—अर्थात् उसने मेरी आखोंको खींच लिया है, मुझे आसक्तिपूर्वक देखा है, इससे जाना कि वह मुझे चाहती है, इसने फिर भी झाकेगी — यह अनुमान' है ।

हरिकविके मतमें, यहा 'ऐंचति' क्रियाके आगे 'सी' वाचक है, इसले 'उत्प्रेक्षा' । 'मृगनयनी' यहां "लुप्तोपमा" । — प्रतापके मतमें 'रूपक' और 'कारक दीपक' भी है ।



६४

दूरौ खरे समीप कौ मान लेत मन मोद ।
होत दुहुनिके दृगन हीं बतरस हँसी विनोद ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (दूरौ खरे)— दूर खड़े हुए भी, (समीपको मोद, मन मान लेत)— समीपका आनन्द मनमें मान रहे हैं । अथवा दूर हैं तो भी "खरे समीप"— अतिसामीप्यका आनन्द मना रहे हैं । (दृगन हीं)— आखोंहीमें (दुहुनिके)—

— दोनोंके, (बतरस, हँसी, विनोद होत)— बातोंका मज़ा, हँसी मज़ाक, सब कुछ हो रहा है!

नायिका परकीया। दोनोंको—हर्ष सञ्चारी भाव। कटाक्ष विक्षेप— अनुभाव।

दोनों दूर खड़े हैं, पर आखोंकी कृपासे मानो पास बैठे हुए बातोंका मज़ा ले रहे और हँसी मज़ाक कर रहे हैं!

अलङ्कार— "विभावना"। दूर खड़े हैं पर पासका मजा ले रहे हैं!

(प्रतापचन्द्रिकाके मतमें) "विभावना और 'दीपक'की संसृष्टि"। तद्यथा—

"दृग हँसी—उपमेय, बतरसहँसी—उपमान, विनोद एक पद, याहीको (एक पदको) धर्म कहे हैं।"

"उपमानरु उपमेय सों इक पद लागै जाय।
ता सों "दीपक" कहत हैं सकल सुकवि समुदाय॥"

तथा 'होत' एक क्रियासे "तुल्ययोगिता" है।



६५

जदपि चवायनि चीकनी चलति चहूँ दिस सैन।
तदपि न छांड़त दुहुनिके हँसी रसीले नैन॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(जदपि चवायनि चीकनी)—यद्यपि चवावसे चिकनी—निन्दासे सनी (सैन)—इशारे (चहूदिस चलति)—चारों ओरसे चलते हैं, (तदपि) तो भी, (दुहुनिके)—दोनोंके, (रसीले नैन)—रसीले नेत्र (हँसी न छाँडत)—हँसी नहीं छोड़ते।

पूर्वानुराग। धृति सञ्चारी। 'सैन' पदसे परकीया व्यङ्ग्य।
दोनोंका प्रेम प्रकट हो गया है—इस बातको अपने पराये सब जान गये हैं। चारों ओरसे उँगलिया उठती हैं। इशारे होते हैं–ताडने वालोंकी आखोंसे निन्दासूचक सैन चलती हैं, तो भी इन दोनोंके रसीले नैन हँसी नहीं छोडते।

"जब आँखें चार होती हैं हँसी फिर आही जाती है।"

अलङ्कार—"विशेषोक्ति"— 'सैन' कारण है, पर 'हँसी छूटना' कार्य न हुआ पर न हुआ। 'तीसरी विभावना'—

"बाधक सैन, चवाब छत (मत्यपि) हँसी काज तऊ होय।"
(अमरचन्द्रिका)

पूर्वार्द्धमें चकारसे 'वृत्त्यनुप्रास'। उत्तरार्द्धमें 'हँसी रसी'से छेकानुप्रास।

इसपर अमरचन्द्रिकामें कुछ प्रश्नोत्तर भी है। उसका भाव यह है —

प्रश्न—"चवाव भरी सैन चलती है"—ऐसा तो कहा जाता है, पर यहा (दोहेमें) "चीकनी सैन"से क्या अभिप्राय है?"

उत्तर—"यह है—कि "रूखी" सैन क्रोधभरी होती है, और यह प्राय दोपदर्शी विद्वेषीकी होती है, उसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि यह दुष्ट व्यर्थका दोष देते है, इसलिये इसकी परवा नहीं। पर "चीकनी सैन" स्नेही और हितैषीकी होती है, जो केवल हितबुद्धिसे चलाई जाती है। यहा "चिकनी सैन" का यह अभिप्राय है कि ये दोनों प्रेमी ऐसे ढीठ हैं जो अपने हितैषियोंकी सैन की भी परवा नहीं करते। और हँसनेसे बाज़ नहीं आते।"

६६

सटपटाति सो ससिमुखी मुख घूंघट पट ढांकि ।
पावकझर सी झमकि कै गई झरोखा झांकि ॥

(नायकका वचन सखीसे)—

अर्थ—(सटपटाति सी)—छटपटाती सी—मानो व्याकुल हुई (ससिमुखी)— चन्द्रमुखी नायिका (मुख घूंघट-पट ढाँकि)—मुखको घूंघटके आंचलसे छिपाकर (पावक-झरसी झमकिकै)—आगकी लपटकी—भबूकेकी—तरह झमककर,(झरोखा झांकि गई)—झरोखेमें झांक गयी।

शशिमुखी नायिका छटपटाकर झरोखेमें ऐसे झांक गयी मानो आगकी लपट झमक गयी !

गुणकथनसे नायकका पूर्वानुराग व्यङ्ग्य। वचन अनुभावसे नायिका परकीया । तथा उसके शङ्का सञ्चारी भाव व्यङ्ग्य ।

अलङ्कार—"पूर्णोपमा" । शशिमुखी—उपमेय । पावक-झर—उपमान । सी—वाचक । झमकना— साधारण धर्म । "उत्प्रेक्षा"—'सटपटाति सी'में । झकारकी आवृत्तिसे "वृत्यनुप्रास"

—— ० ——

"आकृति-लक्षिता-वर्णन"—

६७

कबकी ध्यान लगी लखौ यह घर लगि है काहि ।
डरियत भृंगी कीट लौं जिन वह ई ह्वै जाहि ॥

(सखीकी उक्ति सखीसे)—

अर्थ—(कबकी ध्यान लगी, लखौं)— यह कबकी (नायकके) ध्यानमें लगी है, मैं देखती हूं, (यह घर काहि

लगि है)—यह घर किसे लगेगा, अर्थात् इस ध्यानस्थ नायिकाके घरको कौन सँभालेगा। (डरियत)—डर है कि (भृङ्गी* कीट लौं)—भृङ्गीके पकड़े हुए कीड़ेकी तरह (जिन वह ह्वै जाहि)—मत वही (नायक ही) हो जाय।

नायिका, नायकके ध्यानमें तन्मय बनी बैठी है। उसकी यह दशा देखकर सखी दूसरी सखीसे कहती है कि मैं देख रही हूँ यह कितनी देरसे ऐसे ही ध्यानमें लगी बैठी है, इसे तो अपनी ही सुध नहीं, इसके घरकी खबर कौन लेगा! कहीं ऐसा न हो कि यह भृङ्गीके काबूमें पड़े कीड़ेकी तरह तद्रूप- (नायक-रूप)-ही हो जाय।

भृङ्गी (भमीरी) कीड़ा दूसरे -(झींगर आदि)- को पकड़कर अपने घरमें बन्द कर रखता है, और बार बार उसके सामने उड़ता और गुंजारता रहता है, उस पकड़े हुए कीड़ेको प्रतिक्षण उसीका ध्यान बना रहता है, जिससे कुछ दिनोंमें वह कीड़ा, भृङ्गी बन जाता है।

पूर्वानुरागमें नायिकाकी स्मृति दशा। वितर्क सञ्चारी भाव।

अलंकार—'गम्योत्प्रेक्षा', (हरि कविके मतमें)। ध्यानसे "स्मृति" अलंकार, (अमरचन्द्रिकाके मतमें)। "उपमा" (प्रतापके मतमें)। 'दृष्टान्त' और 'निदर्शना'का संकर, (परमानन्द-कविके मतमें)।

* भृङ्गी —"भृङ्गी कौ नाम संस्कृतमें 'टिडीरव (?) पूरबमें "घिरनी", सो कीरा पकरि कैं अपनो स्वरूप करि लेत है।" (हरिप्रकाश)

"भृङ्गी कीटकी भांति—कहैं 'कुम्हरिया' कीड़े की रीति से।" (लालचन्द्रिका)

भ्रमरी-कीट या भृङ्गी-कीटका उल्लेख ध्यानकी महिमासे तद्रूपप्राप्तिके प्रसङ्गमें संस्कृत ग्रन्थोंमें भी है। इस विषयके दो पद्य नीचे उद्धृत हैं—

१— "विभेमि सखि! सवीक्ष्य भ्रमरीभूत-कीटकम्।
तद्ध्यानादागते पुंस्त्वे तेन सार्धं रतिः कथम्॥"

× × ×

—कोई विरहिणी कहती है सखी! कीड़े को भृङ्गी बना देखकर मैं डर रही हू, निरन्तर उसके—(प्रियके) ध्यानसे यदि मुझे 'पुंस्त्व' प्राप्त हो गया—प्रियका ध्यान करते करते यदि मैं 'पुरुष' बन गयी—तो फिर उसके साथ रमण कैसे होगा?

२— "कीटोऽयं भ्रमरीभवेदविरतध्यानात्तथा चेदहं,
रामः स्यां त्रिजटे! हतास्मि पुरतो दाम्पत्यसौख्यच्युता।
एवं चेत् कृतकृत्यतैव भविता रामस्तव ध्यानतः
सीता त्वं च निहत्य रावणमरिं गन्तासि रामान्तिकम्॥"

—त्रिजटासे सीताजी कहती हैं कि जिस प्रकार निरन्तर ध्यान करते करते यह कीड़ा भृङ्गी बन जाता है, इसी प्रकार यदि मैं भी रामचन्द्रजीका ध्यान करते करते, 'राम' बन गयी तो फिर मर गयी—दाम्पत्य-सुखसे वञ्चित होकर कहीं की न रही!

इसपर त्रिजटा कहती है कि यदि कहीं ऐसा हो जाय—तू राम बन जाय—तो फिर काम बन गया समझो, रामचन्द्रजी तुम्हारा ध्यान करते करते सीता बन जायेंगे। तुम अपने शत्रु रावणको स्वयं मारकर अपने राम—(नहीं 'रामा')—से जा मिलियो!



६८

ही अचलसी ह्वै मनौं लिखी चित्र की आहि।
जे लाज डर लोक कौ कहौ विलोकति काहि॥

(सखीका वचन सखीसे)–

अर्थ — (अचल सी ह्वै रही) – जडके समान हो रही (मनौं चित्रकी लिखी, आहि) – मानो चित्र-लिखित मूर्त्ति हो। लोक को लाज डर तजे) – लोककी लज्जा और भयको डकर (कहौ काहि विलोकति) – कहो किसे देख रही हो?

नायिकासे सखी कहती है कि ऐसी निश्चल बनी मानो है तसवीर बैठी हो, तू लोकलाज और गुरुजनके भयको डकर किसे देख रही है? बता तो सही।

हेतुलक्षिता परकीया। स्तम्भ सात्त्विक।

अलङ्कार—"वस्तूत्प्रेक्षा"। ककार से "वृत्त्यनुप्रास"।



६९

ल न चलै जकि सी रही थकि सी रही उसास।
अब ही तन रितयौ कहा मन पठयौ किहिं पास॥

*(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ — (पल न चले) – पलक भी नहीं चलती, (जक रही) – जकडी सी हो रही है, और (उसास थकि सी ही) – सास भी थक सी रही है, (अब ही कहा तन रित-

*सखीकी उक्ति, परिहास करत है, । परकीया नायिकासों"(हरिप्रकाश)

यौ) – अभी—सङ्गम-समय से पहिले, दिन में ही—क्या शरी
शून्य— रीता, ख़ाली—कर दिया। (किहिं पास मन पठयौ):
मन किस के पास भेज दिया है ?

सात्विक जड़तासे जकड़ी हुई नायिका प्रियका चिन्त
कर रही है, उसमें ऐसी तन्मनस्का हो रही है कि पलक मारन
और सास लेना भी भूल गयी है! यह देखकर सखी कहती
कि क्या 'तन रीता (खाली) करके मन किसीके पास भे
दिया है! जो ऐसी संज्ञाशून्य और निश्चेष्ट बनी बैठी है!

मनकी गतिसे ही शरीर और प्राणोंकी गति हो
है। जब मन चला गया, शरीर शून्यप्राय हो गया, और प्रा
भी थककर रुक रहे!

हेतु लक्षिता परकीया नायिका। स्तम्भ सात्विक। स्मृ
संचारी। पूर्वानुराग व्यङ्गय।
अलङ्कार—"अनुक्तास्पदा वस्तूत्प्रेक्षा" (जकी सी, थ
सी" की "सी" उत्प्रेक्षावाचक 'मानो'के अर्थमें है
"स्मृति"— "मन पठयौ" से। 'जकी थकी सी'
"छेकानुप्रास"।

—*—

७०

नाम सुनत ही ह्वै गयौ तन औरै मन और
दबै नहीं चित चढ़ि रह्यौ अबै चढ़ाये त्यौं

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ — (नाम सुनत ही) – नाम सुनते ही, (तन
मन और ह्वै गयौ) – तन और, और मन और ही गया !
त्यौंर चढाये) – अब त्यौरी चढ़ाने से, (चित चढ़ि रह्य

)-चित्तपर चढ़ा हुआ (नायक या उसका स्नेह) नहीं
प सकता।

किसीने प्रसङ्गवश नायकका नाम लिया, जिसे
ते ही नायिकाका तन और मन, और से और हो गया।
रिपर रोमाञ्च हो आया और मनसे प्रसन्नताकी झलक
लगी। सखीने इसका कारण जानकर उसे छेड़ा तो
त्यौरी चढाकर छिपाने और मुकरने लगी। पर छिपा-
कहीं ऐसी बात छिपती है!

लक्षिता नायिका।

अलङ्कार—"भेदकातिशयोक्ति"—

"भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्"। (कुवलयानन्द)
"और" पद दीजे जहा अधिकाई के हेत।
अतिशयोक्ति भेदक यहै कहत सुकवि सिरनेत।"

'छेकानुप्रास'— अवै दवै से—



७१

छे क्यों रूखी परति सग बग रही सनेह।
न मोहन छवि पर कटी कहै कट्यानी देह॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ—(पूछे क्यों रूखी परति) – पूछनेसे क्यों रूखी
ती है। (सग बग रही सनेह)– स्नेह- (प्रीति) में शरा-
र हो रही है—सिरसे पैर तक स्नेहमें पग रही है। (मन-
हन-छवि पर कटी) – तू मन मोहन की छविपर कट रही
-रीझ रही है, (कट्यानी देह कहै) – इस बातको तेरी

कण्टकित देह कह रही है। अथवा— "मन मोहन छवि कटि"—तेरे मनमें मोहन की छवि 'परकटी'—प्रकट हुई जिसे तेरी रोमाञ्चित देह कह रही है। किंवा—कटानी तैंने तेरे मनमें मोहन की छविको प्रकट कर दिखाया है, तू क्यों नहीं? यही बात है न?

रोमाञ्च सात्त्विक अनुभाव से हेतुलक्षिता नायिका अवहित्था संचारी।

सखीने नायकके प्रेमको पहचान लिया, नायिका रुखाईसे उसे छिपाती है। सखी कहती है कि रुखाईसे स्नेह नहीं छिप सकता, सम्भव है, ज़रा सा 'स्नेह-विन्दु' 'रुखाई की राख' से छिपा भी दिया जाय, पर जो चोज स्नेह—(तैल प्रीति) में डूब रही है, वह थोड़ी सी रुखाईकी राख छिड़कने से कहीं छिप सकती है! तेरी यह देह जिसपर कांटे (सात्त्विक) रोमाञ्च उठ आये हैं, इस बातको कह रही है कि तू मन मोहन की छविपर कट रही है—आसक्त हो रही है मोहित हो रही है!

'स्नेहमें सग वगी' का 'रूखा पडना' और 'कटयानी' का 'छविपर कटना' बतलाना, खूब है। बड़े चुस्त मुहावरे हैं।

सग वग होना—प्रेममें पगना-स्नेह में सनना, शराबोर होना। "रूखा पड़ना" रुखाई दिखाना, नाराज, होना। "कटना" प्रेममें कट मरना, टूक टूक होना अत्यासक्त होना, रीझना।

अलङ्कार—"काव्यलिङ्ग" रोमाञ्च से स्नेह दृढ किया।



७२

प्रेम अडोल डुलै नहीं मुख बोलै अनखाय।
चित उनकी मूरति बसी चितवन माहिं लखाय॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ — (प्रेम अडोल डुलै नहीं)—प्रेम अडोल–अचल–है, वह हिलानेसे डुलता नहीं— अर्थात् इतना दृढ है कि छुडानेसे छूट नहीं सकता। (मुख बोलै अनखाय)— तू मुखसे अनखाकर—नाराज होकर– बोलती है। पर (चित उनकी मूरति बसी)— तेरे चित्तमें उनकी मूर्ति बसी है, जो (चितवन माहिं लखाय)—तेरी चितवनमें दीख रही है।

नायकमें नायिकाका पूर्वानुराग देखकर सखी कहती है कि मैं समझ गयी, तेरा प्रेम उनमें इतना दृढ है जो किसी प्रकार हिलाए हिल नहीं सकता, तू दिखानेके लिये मुहसे रुष्ट होकर बोलती है– जी से नहीं, केवल मुँहसे नाराजगी दिखाती है। पर इससे क्या होता है ? भीतर चित्तमें जो उनकी मूर्ति विराजमान है सो तेरे देखनेमें (अनुरागभरी दृष्टिमें) साफ दिखाई दे रही है। आन्तरिक प्रेम, बाहरके बनावटी कोपसे छिपाया नहीं जा सकता !

यहां "अडोल डुलै नहीं"– को पुनरुक्त समझकर और 'मुख बोलै'–में 'मुख' शब्दको व्यर्थ बताकर ('बोलै' ही से मुखका बोध हो जाता है, क्योंकि मुख ही से बोलते हैं) 'अमरचन्द्रिका' के प्रश्नोत्तरका दोहा और अपनी "वार्ता" लिखकर लल्लूलालजीने व्यर्थ बात बढाई है। वास्तवमें न कोई पुनरुक्ति है न 'मुख' व्यर्थ है। जैसा कि हरिकविने कहा है–

कण्टकित देह कह रही है। अथवा— "मन मोहन छवि पर कटि"—तेरे मनमें मोहन की छवि 'परकटी'—प्रकट हुई है जिसे तेरी रोमाञ्चित देह कह रही है। किंवा—कटानी देह तेरे मनमें मोहन की छविको प्रकट कर दिखाया है, ए क्यों नहीं? यही बात है न?

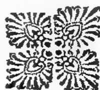
रोमाञ्च सात्त्विक अनुभाव से हेतुलक्षिता नायिका अवहित्था संचारी।

सखीने नायकके प्रेमको पहचान लिया, नायिका रुखाई उसे छिपाती है। सखी कहती है कि रुखाईसे स्नेह न छिप सकता, सम्भव है, ज़रा सा 'स्नेह-विन्दु' 'रुखा की राख' से छिपा भी दिया जाय, पर जो चीज स्नेह—(तै प्रीति) में डूब रही है, वह थोड़ी सी रुखाईकी राख छिड़क ने से कहीं छिप सकती है! तेरी यह देह जिसपर कांटे (सात्त्विक) रोमाञ्च उठ आये हैं, इस बातको कह रही है कि तू मन मोहन की छविपर कट रही है—आसक्त हो रही है, मोहित हो रही है!

'स्नेहमें सग वगी' का 'रूखा पडना' और 'कटयानी देह' का 'छविपर कटना' बतलाना, खूब है। बड़े चुस्त मुहावरे हैं।

सग बग होना—प्रेममें पगना-स्नेह में सनना, शराबोर होना। "रूखा पड़ना"रुखाई दिखाना, नाराज, होना। "कटना"— प्रेममें कट मरना, टूक टूक होना अत्यासक्त होना, रीझना।

अलङ्कार—"काव्यलिङ्ग" रोमाञ्च से स्नेह दृढ किया।



करना तो ठीक है, पर तेरी आखोंमें आसु, मुहपर मुसकराहट और शरीरपर रोमाञ्च क्यों है? केवल कबूतरका उडना तो इनका कारण नहीं हो सकता। सच बता, क्या बात है?

"फक्त है वास्ता इतना कि वह प्यारे का प्यारा है।"

क्यों यही कारण है न?

अलङ्कार—"पर्यायोक्ति" कबूतरके बहाने नायकको देखना इष्ट है। "हेतु"– कारण देखना और कार्य अश्रु रोमाञ्च एक साथ हैं। यदि सखी नायिकाको सुनाकर नायकको जता रही है कि यह तुमपर आसक्त है, तो "गूढ़ोक्ति"। ककारसे "वृत्त्यनुप्रास"।

७४

यह मैं तो ही में लखी भक्ति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तन कदम्बकी माल॥

(सखीका वचन नायिकासे)–

अर्थ —(बाल) हे बाले! (यह अपूरब भक्ति, मैं तो ही में लखी)– यह अपूर्व भक्ति मैंने तुझ ही में देखी कि (जु प्रसाद-माला लहि)– जो प्रसादी की माला पाकर (तन कदम्ब की माल भौ)– तेरा शरीर कदम्ब की माला हो गया।

नायकने नायिकाको, सखीके हाथ माला भेजी है। नायिका-के पास उस समय कोई बहिरङ्ग सखी बैठी है, जान जाय इसलिये सखीने "प्रसाद-माला" + (जो देवालय-

+ "ठाकुर के पंडा सों नायिका की प्रीति है यों भी लगावें हैं" (हरिप्रकाश)

—"दो बार बाधी बात अति दृढ होती है, यह रीति है, पुनरुक्ति नहीं, अति दृढ़ता व्यक्त होती है।" "मुख शब्दसे यह ध्वनि हुई कि मनसे तू राज़ी है।"

वितर्क सञ्चारीसे नायिका परकीया। स्मृति दशा। चिन्ता सञ्चारी। आकृति अनुभावसे पूर्वानुराग व्यङ्ग्य।

अलङ्कार— "अनुमान"। "यमक"— 'चित चित' में। 'विभावना, अनुमान, और यमककी संसृष्टि'-(अनवरचन्द्रिका)।



७३

ऊंचे चितैं सराहियत गिरह कबूतर लेत।
दृग झलकित मुलकित वदन तन पुलकित किहि हेत

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ —(ऊँचे चितै) – ऊपर देखकर (सराहियत)– सराहते हैं, (कबूतर गिरह लेत)– कि कबूतर गिरह ले रहा है– कलाबाजी करता हुआ क्या अच्छी उडान ले रहा है! (दृग झलकित, वदन मुलकित, तन पुलकित, किहि हेत)— परन्तु तेरे नेत्र डबडबा रहे हैं, मुखपर प्रसन्नताकी झलक है, और शरीर पुलकित–रोमाञ्चयुक्त—है, यह किस कारण!

नायकने अटारीपरसे अपना 'गिरहबाज़' कबूतर उडाया है। नायिका कबूतर देखनेके बहाने नायकको देख रही है। जिससे उसे अश्रु, रोमाञ्च– रूप सात्त्विक भाव हो आया है। इस बातको समझकर सखी कहती है कि अच्छी उडान वाले गिरहबाज कबूतर को उडता देखकर उसकी प्रशंसा

करना तो ठीक है, पर तेरी आखोंमें आसू, मुंहपर मुसकराहट और शरीरपर रोमाञ्च क्यों है ? केवल कबूतरका उडना तो इनका कारण नहीं हो सकता ! सच बता, क्या बात है ?

"फकत है वास्ता इतना कि वह प्यारे का प्यारा है !"

क्यों यही कारण है न ?

अलङ्कार—"पर्यायोक्ति" कबूतरके बहाने नायकको देखना इष्ट है। "हेतु"– कारण देखना और कार्य अश्रु रोमाञ्च एक साथ हैं। यदि सखी नायिकाको सुनाकर नायकको जता रही है कि यह तुमपर आसक्त है, तो "गूढ़ोक्ति"। ककारसे "वृत्त्य-नुप्रास"।

७४

यह मैं तो ही में लखी भक्ति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तन कदम्बकी माल ॥

(सखीका वचन नायिकासे) –

अर्थ —(बाल) हे बाले ! (यह अपूरब भक्ति, मैं तो ही में लखी) – यह अपूर्व भक्ति मैंने तुझ ही में देखी कि (जु प्रसाद-माला लहि) – जो प्रसादी की माला पाकर (तन कदम्ब की माल भौ) – तेरा शरीर कदम्ब की माला हो गया !

नायकने नायिकाको, सखीके हाथ माला भेजी है। नायिका-के पास उस समय कोई बहिरङ्ग सखो बैठी है, जान जाय इसलिये सखीने "प्रसाद माला" + (जो देवालय-

† 'ठाकुर के पंडा सों नायिका की प्रीति है यों भी लगावें हैं" (हरिप्रकाश)

की ओरसे भक्त जनोको दी जाती है) बताकर नायिका को वह माला दी। जिसे पहनकर नायक-प्रदत्त मालाके सम्बन्ध से नायिकाको सात्त्विक रोमाञ्च हो आया। बहिरङ्ग सखी पहचान गयी, और परिहासपूर्वक उस " स्नेह-लङ्घिता-" से कहती है कि यह अपूर्व भक्ति मैंने तुझी में देखी जो प्रसाद मालाको पाकर तेरा शरीर 'कदम्बमाला' बन गया-कण्टकित हो गया -! कदम्ब-पुष्प कण्टकित -(पुलकित)- शरीरका उपमान है। कदम्बके पुष्प कण्टकाकार केशरसे युक्त होते हैं।

'अपूर्व-पद' के योगसे 'रोमाञ्च' शृंगारजन्य समझना चाहिये। तथा कहने वाली परिहासपूर्वक कहती है, इससे "भक्ति" का अर्थ यहा "प्रीति" है।

१— अलङ्कार— "हेतु" । प्रसादमाला— कारण, और रोमाञ्च-कार्य्य, एकसाथ कहा।

अथवा— "हेतुहेतुमतोरैक्य हेतु केचित्प्रचक्षते"

कण्टकित होनेके कारण मालाको और कण्टकित शरीरको एक कहा।

"परिसङ्ख्या"—"परिसंख्या इक थल बरजि दूजे थल ठहराय।" —यह अपूर्व भक्ति तुझीमें है औरमें नहीं— इस प्रकार अन्यत्र तादृश भक्तिका निषेध करके उसी (नायिका)में वैसी भक्ति ठहरायी।

२—"रसवान्"— 'अपूर्व' पदसे 'अद्भुत' रस* आभासित है। वह शृङ्गारका अङ्ग (पोषक) है। जहा एक रस दूसरे

* "भक्ति पदमें सा[शा]न्त रस भासत है, यातें रसवत् अलंकार" (प्रतापचन्द्रिका)

रसका पोषक (अङ्ग) हो, वहा "रसवान्" अलङ्कार होता है।

४—"रूपकातिशयोक्ति"—'कदम्बमाला'—उपमानसे 'कण्टकित' तनु—'उपमेय'का बोध होता है।

५—"धर्मवाचकलुप्तोपमा"— उपमेय—तन, उपमान—कदम्ब-माला तो हैं। तथा वाचक इवादि और साधारण धर्म—'कण्टकित'-होना लुप्त हैं।



७५

कोरि [टि] जतन कीजै तऊ नागरि नेह दुरै न।
कहे देत चित चीकनौ नई रुखाई नैन॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ —(कोरि जतन कीजै)— करोड यत्न करो (तऊ)—तो भी, (नागरि नेह दुरै न)— हे नागरी! स्नेह छिप नहीं सकता। (चीकनो चित कहे देत)— स्नेहसे चिकना चित्त (इस बातको) कहे देता है। (नैन नई* रुखाई)— और नेत्रोंमें यह रुखाई नयी है, नये ढगकी है अर्थात् बनावटी है।

अथवा नेत्रोंकी यह नयी रुखाई चित्तके चिकना होनेको कहे देती है, इसलिये हे नागरी! —अपनी ओरसे तो तू स्नेह छिपानेमें बहुत चतुरता दिखाती है – 'नागरि' सम्बोधन पदसे यह भाव ध्वनित है —परन्तु करोड यत्न करनेपर भी स्नेह छिप नहीं सकता।

* किंवा— न ई रुखाई— ई' कहिए— यह, न रुखाई— रुक्षता नहीं है। (हरिप्रकाश)

की ओरसे भक्त जनोंको दी जाती है) बताकर नायिका को यह माला दी। जिसे पहनकर नायक-प्रदत्त मालाके सम्बन्ध से नायिकाको सात्त्विक रोमाञ्च हो आया। वहिरङ्ग सखी पहचान गयी, और परिहासपूर्वक उस " स्नेह-लक्षिता-" से कहती है कि यह अपूर्व भक्ति मैंने तुझी में देखी जो प्रसाद मालाको पाकर तेरा शरीर 'कदम्बमाला' बन गया-कण्टकित हो गया-! कदम्ब-पुष्प कण्टकित -(पुलकित)- शरीरका उपमान है। कदम्बके पुष्प कण्टकाकार केशरसे युक्त हो-ते हैं।

'अपूर्व-पद' के योगसे 'रोमाञ्च' शृंगारजन्य समझ-ना चाहिये। तथा कहने वाली परिहासपूर्वक कहती है, इससे "भक्ति" का अर्थ यहा "प्रीति" है।

१— अलङ्कार- "हेतु" । प्रसादमाला— कारण, और रोमाञ्च-कार्य्य, एकसाथ कहा।

अथवा— "हेतुहेतुमतोरैक्य हेतु केचित्प्रचक्षते"

कण्टकित होनेके कारण मालाको और कण्टकित शरीरको एक कहा।

"परिसङ्ख्या"—"परिसख्या इक थल वरजि दूजे थल ठहराय।" —यह अपूर्व भक्ति तुझीमें है औरमें नहीं— इस प्रकार अन्यत्र तादृश भक्तिका निषेध करके उसी (नायिका)में वैसी भक्ति ठहरायी।

३—"रसवान्"— 'अपूर्व' पदसे 'अद्भुत' रस* आभासित है। वह शृङ्गारका अङ्ग (पोषक) है। जहां एक रस दूसरे

* "भक्ति पदमें सा[शा]न्त रस भासत है, यातें रसवत् अलंकार" (प्रतापचन्द्रिका)

(नायिका अपने जिस अविवाहित देवरमें आसक्त है, उसी देवरका विवाह है। घर बाहरकी सब स्त्रिया विवाहोत्सवमें इकट्ठी हुई खुशी मना रही हैं और उमंगसे भरकर मङ्गलाचारके गीत गा रही हैं। पर देवरासक्ता नयिकाको इस विवाहका दुःख है, वह इस उत्सवमे शरीक नही होती, बिलखी— अनमनी उदास या नाराज हुई– अलग अलग फिर रही है। सखी इस बिलखनेका कारण जानती है— छेडनेके लिये नायिकासे कहती है। अथवा नायक (देवर)को सुनाकर कहती है। "विषाद" सञ्चारीसे अनुराग व्यङ्ग्य।

अलङ्कार— १—"गूढोक्ति"—देवर (नायक)को सुनाकर वह (नायिका)से कहती है। २— "उल्लास"— देवरके ब्याह रूप गुणसे नायिकाको बिलखना दोष हुआ।

'रसाभास' और 'धर्म-विरोध'का सघर्ष

इस दोहेकी टीका करते हुए कई टीकाकारोंने 'धर्म विरोध'के परिहारका भगीरथ परिश्रम किया है। हरि कवि लिखते हैं—

"अपने देवर सों रति करैं तो "रसाभास" दोष होय, परोसिनिके देवर सों नायिकाकी आसक्ति थी, एक गामकी नववधूको तो "वहू" अब ही (भी) कहै हैं, यह रीति है। परोसिनिको वचन नायिका सों। "किंवा—"देवर की स्त्री आये (आने पर) नायक स्वच्छन्द घर में नहीं आवेगा, याते (इस कारण) स्वकीया सों सखी पूछति। "किंवा– नायिका बहुत सुन्दरी है, ता की पति दूसरा विवाह करिबे चल्या है, ता सों (नायिका सो) सखी वचन – "और जा "सबै" कहिए सखी, (समानवयस्का) सो तो हरषी फिरति हैं, नायिका पूछति है– कहा फिरि है लुगाई सब? (उ०) जहा तेरी (तेरे?) नायकके ब्याहके गीति उछाहभरी गावति हैं, यहा, ऐसी स्त्री दूसरी नहीं मिलेगी याते तूँ "वहू" कहिए बहुत बिलखी क्यों फिरति है? क्यों 'दे घर' आज्ञा

अवहित्था— सञ्चारीसे 'हेतुलक्षिता' नायिका।

अथवा, खण्डिता नायिकाकी उक्ति नायकसे— कि तुम करोड़ यत्न करो "नागरि-स्नेह"—उस 'नागरी'का—जो तुम्हें अपने वश करनेमें प्रवीण है उस नायिकाका—स्नेह छिपा नहीं सकते!

अलङ्कार— 'पञ्चमी विभावना'— रूखे नयन, चीकने चित्तको कहते हैं, विरुद्ध कारणसे कार्योत्पत्ति। अथवा 'विशेषोक्ति'— 'करोड़ यत्न' रूप कारणसे भी 'स्नेह छिपाना' कार्य्य न हो सका। "काव्यलिङ्ग"—भी हो सकता है, क्योंकि उत्तरार्ध, पूर्वार्धका समर्थन करता है।

——:०——

७६

और सबै हरखी[षीं] फिरैं गावति भरी उछाह।
तुही बहू बिलखी फिरै क्यों देवरके ब्याह॥

(सखीका वचन नायिकासे)* —

अर्थ — (और सबै हरखी फिरैं)— और सब स्त्रियां प्रसन्न हुई फिर रही हैं, (उछाह भरी गावति)— और उत्साहसे भरी गाती हैं, (देवरके ब्याह)— देवरके ब्याहमें (बहू, तुही बिलखी क्यों फिरै)— हे बहू! एक तुही नाराज अनमनी- हुई क्यों फिरे है?

* "सासु बहू सौं कहै है, कि और सब तो हर्षित हैं, पर तू देवरके ब्याह सों कति (क्यों) दुखित है।" और दूसरो अर्थ यह है— कि जा के देवर का ब्याह है सो परोसिन से कहै हैं कि और सबै हर्षित हैं। तू मेरे देवर के ब्याह में क्यों दुखित है?' (रसचन्द्रिका)

ब्याहसे सबद्ध अनेक कार्योंके प्रबन्धमें संलग्न होनेके कारण, न्योतेमें आई हुई निश्चिन्त स्त्रियोंकी भाँति गाने बजाने चुहुल करने आदिका अवकाश नहीं पाती)। ऐसी दशामें उस (नायिका) से उसकी भ्रातृ-तरुणी (भौजाई) रस ऐन (परिहास-पूर्ण) वचन कहती है कि, यह, तू ही क्यों मुंह लटकाए फिरती है।

भौजाईका ननदसे परिहास करना इस देशकी रीति है, और परिहासके अवसरपर जैसे साला बहनोईको अपना साला बनाता है, वैसे ही भावज ननदको अपनी भौजाई बनाती है, और भौजाईकी सबोधन, बधू (बहू) शब्दसे प्रसिद्ध है। ब्याहके अवसरमें सभी सबसे (दिल्लगी) करते हैं। और देवर भौजाई तथा ननद भावजका सभी कालमें परिहास हुआ करता है।

*किहिं तिय सौं—किसी स्त्रीसे (नायिकासे)। रस=हँसी। चुहुल=दिल्लगी। ऐन=घर। रस ऐन= परिहास पूर्ण। यह बैन (वचन) का विशेषण है। नायिकासे (उसकी) भ्रातृ-तरुणीके रस ऐन बैन इत्यर्थ।

"बिलखी, बिलखि, बिलखना" आदिका गभीरता सूचक अर्थ यदि सन्दिग्ध समझिए, तो रामायणके इस दोहेके अर्थका विचार कीजिए—

* अपना अर्थ लिखकर लल्लूलालजीने यह प्रश्नोत्तर लिखा है—
"प्रश्न—यहाँ भी देवर धर्म विरुद्ध।
"उत्तर—भ्राततरुणिके बैन। किहिं तिय सौं रसऐन।"

नायकको तू व्याह करि, मोहिसी नही मिलेगी— यह अर्थ।" (हरिप्रकाश)

इस अन्तिम कल्पनामें 'देवर' 'बहू' दोनों विलकुल साफ उड़ गये! 'बहू'का अर्थ बहुत, और 'देवर'का पदच्छेद (टुकड़े) करके, "वर"-आज्ञा, "दे"- देहि, हो गया। अर्थात् सखी नायिकासे कहती है, तू अपने पतिको दूसरा व्याह करते देख इतनी अप्रसन्न हुई क्यों फिरती है! उसे स्वयं आज्ञा क्यों न दे दे कि एक नहीं, दस व्याह कर लो, मुझसी सुन्दरी कहीं ढूंढे न मिलेगी।

वास्तवमें यह अर्थ बहुत बढ़िया रहा, इससे "देवर बहू" के साथ ही "रसाभास" दोष को और 'धर्मविरोध'की भी समाप्ति हो गयी। न रहे बांस न बजी बासरी!

श्रीलल्लूलालजीने यहा भी (१५वें दोहेकी तरह) 'अमरचन्द्रिका' का प्रश्नोत्तर लिखकर धर्मविरोधका शोशा छोड़ा है, जिसे बुझानेके लिये डाक्टर ग्रियर्सनको बहुत परिश्रम उठाना पडा है। उनके Additional notes में पहला नोट इसी पर है, जिसमें किसी विद्वान्ने बडी विद्वत्ता खर्च की है। जो द्रष्टव्य है। तथाहि :—

> "और सब प्रसन्न फिरती हैं आनन्दसे भरी गाती (हुई)। हे बहू, तू ही देवरके व्याहमें क्यों बिलखी फिरती है?
>
> बिलखना—शोक मग्न होना और गभीर भाव धारण करना, अर्थात् हर्ष शोकादिका न प्रकाश करना। वि—विशेषरूपसे, लखना— देखना वा दिखाई पड़ना।"
>
> —इस दोहेमें 'बिलखी' का अर्थ शोकमग्ना नहीं है। गभीरा है। अर्थात् औरोंकी भांति उत्साहसे पूर्ण होके गाती नहीं फिरती। देवरके)

व्याहसे संबद्ध अनेक कार्योंके प्रबन्धमें संलग्न होनेके कारण, न्योतेमें आई हुई निश्चिन्त स्त्रियोंकी भाँति गाने बजाने चुहुल करने आदिका अवकाश नहीं पाती)। ऐसी दशामें उस (नायिका) से उसकी भ्रातृ-तरुणी (भौजाई) रस ऐन (परिहास-पूर्ण) वचन कहती है कि, बहू, तू-ही क्यों मुह लटकाए फिरती है ।

भौजाईका ननदसे परिहास करना इस देशकी रीति है, और परिहासके अवसरपर जैसे साला बहनोईको अपना साला बनाता है, वैसे ही भावज ननदको अपनी भौजाई बनाती है, और भौजाईकी संबोधन, वधू (बहू) शब्दसे प्रसिद्ध है। व्याहके अवसरमें सभी सबसे (दिल्लगी) करते हैं। और देवर भौजाई तथा ननद भावजका सभी कालमें परिहास हुआ करता है।

*किहि तिय सौं—किसी स्त्रीसे (नायिकासे)। रस=हँसी। चुहुल=दिल्लगी। ऐन=घर। रस ऐन= परिहास पूर्ण। यह बैन (वचन) का विशेषण है। नायिकासे (उसकी) भ्रातृ-तरुणीके रस ऐन बैन इत्यर्थ ।

"बिलखी, बिलखि, बिलखना" आदिका गंभीरता सूचक अर्थ यदि सन्दिग्ध समझिए तो रामायणके इस दोहेके अर्थका विचार कीजिए—

* अपना अर्थ लिखकर लल्लूलालजीने यह प्रश्नोत्तर लिखा है —
"प्रश्न—यहाँ भी देवर धर्म विरुद्ध ।
"उत्तर—भ्रातृतरुणिके बैन । किहि तिय सौं रसऐन ।"

" सुनहु भरत भावी प्रवल,
विलखि कहा मुनि-नाथ।
लाभ हानि जीवन मरन,
जस अपजस विधि-हाथ " ॥

मुनि नाथ वसिष्ठजी वेदान्तशास्त्रके आचार्य्य हैं। उनको किसीके जन्म मरणादिमें हर्षशोकके वश गाना रोना (विलखना) शोभा नही देता। इससे यही अर्थ युक्तियुक्त होगा कि, मुनि-नाथने गंभीरतासे (विशेषतासे देखके—विचारके) कहा। क्योंकि लाभ हानि जीवन मरन जस अपजस ज्ञानपूर्ण आश्वासन वाक्य है, जो विलखकर (रोकर) कहना सभावित नही है।"

"ऊपरवाले दोहेके अर्थमें इतनी खींच खाच केवल लाल कविकी टीकाके अनुरोधसे करनी पड़ती है। नही तो जय परकीयत्व मात्र ही धर्मविरुद्ध है देवर जेठ कैसा ? सतसई धर्म-शास्त्र तो है ही नही। कविताका ग्रन्थ है। सो उसमें परकीयाका वर्णन हुआ ही करता है। वरच देवरसे प्रकाश्यरूपमें हँसी जी लगीका नाता होनेके कारण परकीयत्वमें वड़ा सुभीता रहता है। इसीसे वहुधा ऐसी स्त्रिया अपने उपपतिको 'देवर' ही कहा भी करती हैं। अस्मात् यदि टीकाकारके प्रश्नका अनुरोध न किया जाय, तो नायिकासे अन्तरङ्गिनी सखीका वचन। और देवर शब्दको पतिके भाईके अर्थमें न ले के, उपपतिके अर्थमें मान लेनेसे कोई

हानि नहीं है। दयानन्दस्वामीने वेद(भाष्य) भूमिकामें, नियोगके प्रकरणमें, 'देवर'का अर्थ द्वितीय वर-(पति)-लिखा है"। —

—(डा० ग्रियर्सन-सम्पादित लालचन्द्रिकाका परिशिष्ट)

इन महानुभावोंका इस प्रकार सतसईसे "रसाभास" और 'धर्म विरोध' दूर करनेका यह भगीरथ प्रयत्न प्रशंसनीय है। परन्तु यह देवर-विषयक "रसाभास" और "धर्मविरोध" संस्कृत और प्राकृतके अन्य कवियोंके वर्णनोंमें भी प्रचुरतासे पाया जाता है। १५ वें, दोहेकी व्याख्यामें इस विषयकी दो प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की जा चुकी हैं। अब इसी प्रसंगकी एक "आर्य्या", और दूसरी "गाथा" यहां और उद्धृत की जाती है —

दलिते पलाल-पुञ्जे वृषभं परिभवति गृहपतौ कुपिते।
स्मृत-निभालित-वदनौ हलिकवधू-देवरौ हसतः ॥३०२॥ 'आ०स०

—"पुरालके ढेरको बिखरा हुआ देखकर, घरवाला, कुपित हो, बैलको मारने लगा, यह समझकर कि इसीने यह पुराल बखेरी है। इसपर 'हालिकवधु'—(बैलको पीटनेवाले किसानकी स्त्री) और देवर, एक दूसरेका मुँह देखते और मुसकाते अपनी करतूतपर हँसते हैं कि कसूर तो हमारा है, बैल बचारा योंहीं पिट रहा है! लड़ें कुम्हारी कुम्हार गधेके कान उठें!।

× × ×

"काचन देवरेऽनासक्ता तेन च प्रियवाक्यशतैः प्रलोभ्य वशीकृता, ततश्च कुतश्चिन्निमित्ताद्विरज्यति तस्मिन्तमुपालब्धुमिदमाह —

'सच्चं साहसु देअर तह तह चडुआरएण सुणएण।
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहत्तण सिक्खिअ कत्तो ॥''—

७८

तू मत माने मुकतई किये कपट-बत कोटि।
जौ गुनहो तौ राखिये आंखनि माहिँ अगोटि॥

(सखीका वचन नायिकासे*)

अर्थ — (कोटि कपट-बत† किये) — करोड़ों कपटकी बातें करनेपर भी (तू मुकतई मत माने) — तू इससे जुदाई मत जान, (जौ गुनहो) — यदि यह गुनहगार — अपराधी — है (तौ आँखिन माहि अगोटि राखियै) — तो आखोंमें नजर बन्द कर रखिए।

परकीया नायिका, शठ नायककी बहुतसी शिकायतें सुनकर रूठी बैठी है। उसे सखी समझाती और मनाती है कि नायकके विषयमें कपट (शठता) की करोड़ों बातें सुन कर भी तू उन — (बातों) — पर विश्वास मत कर और नायकसे जुदाईकी मत ठान। पिशुन लोगोंकी क्या है, वे तो वैसे ही, नायकको कपटी बताकर तुझसे उसमें भेद

* "नायक शठ तहां सखी-वचन नायिका सों।" (अमरचन्द्रिका)
—"जो सखीकी उक्ति होय नायिका प्रति तो ईर्ष्या सञ्चारी, भेदोपायसे मान जानिए।" (अनवरचन्द्रिका)
—"सखी नायक पक्षकी भी हो सके है, क्योंकि इस ही मिष चतुराई सौं कहे है कि आंखिन में राखि।" (रसचन्द्रिका)

† पाठान्तर— "—दियै कपट-वित कोटि"— जु गुनही—गुनहगार है तौ आंखि ही में राखि। कपटरूपी वित्त देइ तोऊ मुकतई—छूटनौ उसकौ मति मानि।" (अमरचन्द्रिका) — अर्थात् यदि वह वास्तवमें गुनहगार है तो चाहे कितना ही कपटरूपी धन रिश्वतमें देकर छूटना चाहे (अपराध-मुक्त होना चाहे तो भी छोड़ने पर राजी मत हो, किन्तु आंखोंमें बन्द करके नजरबन्दी की सख्त सजा दे।

७८

तू मत माने मुकतई किये कपट-बत कोटि।
जौ गुनहो तौ राखियै आँखनि माहिँ अगोटि॥

(सखीका वचन नायिकासे*)

अर्थ — (कोटि कपट-बत † किये)— करोड़ों कपटकी बातें करनेपर भी (तू मुकतई मत माने)—तू इससे जुदाई मत जान, (जौ गुनही) — यदि यह गुनहगार— अपराधी— है (तौ आँखिन माहि अगोटि राखियै)— तो आखोंमें नजरबन्द कर रखिए।

परकीया नायिका, शठ नायककी बहुतसी शिकायतें सुनकर रूठी बैठी है। उसे सखी समझाती और मनाती है कि नायकके विषयमें कपट (शठता)की करोड़ों बातें सुन कर भी तू उन—(बातों)- पर विश्वास मतकर और नायकसे जुदाईकी मत ठान। पिशुन लोगोंकी क्या है, वे तो वैसे ही, नायकको कपटी बताकर तुझमें उसमें भेद

* "नायक शठ तहाँ सखी-वचन नायिका सो।" (अमरचन्द्रिका) —'जो सखीकी उक्ति होय नायिका प्रति तो ईर्ष्या सञ्चारी, भेदोपायसे मान जानिए।" (अनवरचन्द्रिका)

—"सखी नायक पक्षकी भी हो सके है, क्योंकि इस ही मिस चतुराई सों कहे है कि आँखिन में राखि।" (रसचन्द्रिका)

† पाठान्तर— "—दिये कपट-वित कोटि"— जु गुनही—गुनहगार है तौ आँखिन ही में राखि। कपटरूपी वित्त देइ तोऊ मुकतई—छूटनो उनसों मत्ति मानि।' (अमरचन्द्रिका) — अर्थात् यदि वह वास्तवमें गुनहगार है तो चाहे कितना ही कपटरूपी धन रिशवतमें देकर छूटना चाहे (अपराध-मुक्त होना चाहे) तो भी छोड़ने पर राजी मत हो, किन्तु आँखों में बन्द करके नजरबन्दी की सख्त सजा दे।

डलवाना चाहते हैं। तू उनकी बातोंपर ध्यान ही मत दे। और यदि तुझे उनकी बातोंपर ऐसा ही विश्वास हो गया है कि नायक अवश्य कपटी और अपराधी है, तो भी छोड़ना ठीक नहीं, यदि वह गुनहगार है तो उसे आखों-के किलेमें 'नजर-बन्द' करके रख। अपराधीको किलेमें कैद कर देना ही उचित दण्ड है, योंहीं छोड़ देना ठीक नहीं!

अलङ्कार— "पर्यायोक्ति"। इस प्रकार दण्ड दिलानेके बहानेसे मिलाना इष्ट है।

"सम्भावना"—"जो तो पद जहँ होइ, सम्भावना तहँ जोइ।"

हरि कविके मतमें "उपमा" भी। 'कपट-चित' पाठमें 'रूपक'।

इस दोहेको किसी किसीने परमार्थ पक्षमें भी लगाया है। यथा —

किसी गुरुकी उक्ति अपने शिष्यसे— ⊛

हे शिष्य! तू भण्डभक्तिके करोड़ कपट करने पर भी अपनी मुक्ति मत समझे, इन बातोंसे मुक्ति नहीं होगी। जैसे गुनहगारको बन्द कर रखते हैं ऐसे ही तू भगवान्‌को अपनी आखोंमें बन्द कर रख— उसके रूपमें अपने नेत्र लगा— संसारकी ओरसे आखें बन्द करके, ईश्वरके ध्यानमें मग्न हो जा, कपटकथा की बातें बनानी छोड़ दे!!

—⊛—

⊛ "जो उक्ति काहू साधुकी होय तो चित्त सो जानिए। वितर्क सञ्चारी नें पोष्यो निर्वेद स्थायी, कथन अनुभावसें शान्तरस व्यङ्ग्य।"

(अनवरचन्द्रिका)

अनवरचन्द्रिकामें "किये कपट चित कोटि'। पाठान्तर है।

७९

धनि यह द्वैज जहां लख्यौ तज्यौ दृगनि दुखद्वन्द।
तुव भागनि पूरब उयौ अहो अपूरब चन्द॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ—(यह द्वैज धनि)—यह द्वितीया धन्य है (जहा लख्यौ)—जिसमें देखा (अर्थात् नायक-रूप चन्द) (दृगनि दुखद्वन्द तज्यौ)—आंखोंने दुखका बखेड़ा छोड दिया, अर्थात् इसके दर्शनसे आखें सुखी हुईं, अदर्शनका दुख दूर हुआ। (अहो तुव भागिन)—आ हा! यह तेरे भाग्यसे, (पूरब, अपूरब चन्द उयौ)—पूर्व दिशामें अपूर्व* चन्द्रमा उगा है।

दोयजके दिन नायिकाको चन्द्रमा दिखानेके बहाने, पूर्व दिशामे खडे हुए नायकको सखी दिखाती है कि यह दोयज धन्य है जहाँ आंखें इस अपूर्व चन्द्रको देख दुख छोड सुख पाती हैं। दोयजका चन्द्रमा, पश्चिममें उदय हुआ करता है, पर यह पूर्वमें उदय हुआ है, इसलिये 'अपूर्व चन्द्रमा' है। जो तेरे भाग्य ही से उदय हुआ है, देख और आखोंका दुखद्वन्द्व दूर कर।

---

* अमरचन्द्रिकाकारने नायकके प्रति सखीका वचन लिखकर "अपूर्व" का यह अर्थ किया है कि पूर्ण चन्द्रमा 'राका'-पूर्णमासी-को होता है, पर यह दोयजके दिन ही पूर्ण चन्द्र उग रहा है, इसलिये अपूर्व' है—"इत्यादि।

—"नायिका मर्यतमे घाई है, नायिकाने नायकको अन्यनायिका देखत देख्यो है। तब नायिकाको वचन। उत्तमा नायिका। किंवा—खण्डिताको वचन, नखक्षत देख्यो। पूरब सो सन्मुख, पच्छिम सो पीछे। अपूरब चन्द सो लालचन्द्र सुरत को चन्द- नखक्षत- विपरीत लक्षणा से"

(प्रतापचन्द्रिका)।

अलंकार—१—"पर्य्यायोक्ति"। —चन्द्रदर्शनके बहाने नायकको दिखाना इष्ट है।

२—"प्रस्तुताङ्कुर।"—

"प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुर।"

"प्रस्तुत-अकुर प्रस्तुत ही प्रस्तुत देइ जताय।"

चन्द्रमा और नायक दोनों प्रस्तुत। प्रस्तुत चन्द्रमासे प्रस्तुत नायक जताया, (हरि कविके मतमें)। दकारसे "वृत्त्यनुप्रास"।



८०

एरी यह तेरी दई क्यौं हूँ प्रकृति न जाय।
नेह भरे हिय राखिये तू रूखियै लखाय॥

(सखीका वचन सखीसे)—ॐ

अर्थ—(दई) हा दैव! (एरी! तेरी यह प्रकृति क्यौं हूँ न जाय)—एरी सखी! तेरा यह स्वभाव किसी प्रकार भी नहीं जाता! (नेह भरे हिय राखिये)—तुझे नायक अपने स्नेह भरे हृदय में रखता है, (तू रूखियै लखाय)—पर तू रूखी ही दीखती है।

'नायिका, नायकसे मान किए 'रूखी' बनी बैठी है। सखी कहती है कि आश्चर्यकी बात है तेरा यह (रुखाईका) स्वभाव किसी तरह भी नहीं जाता! नायकके स्नेहपूर्ण हृदयमें रह कर भी तू रूखी ही रही! कुछ भी स्नेह (प्रीति, चिकनाई) का

ॐ 'थाया[स] दूती की उक्ति मानिनी नायिका से, उपालम्भ धारी," (प्रतापचन्द्रिका)

असर न हुआ। घृत तैल आदि स्नेह भरे पात्रमें कैसी ही रूखी चीज डाल दी जाय, वह चिकनी हो जाती है, पर तू रूखी की रूखी ही रही!

अलङ्कार— "अतद्गुण"—

"सङ्गतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम्।"

"सु अतद्गुण जहँ सग सो कुछ गुण लागत नाहि।

नेह भरे हिय में रहे होत चीकनी नाहिं॥" (अमरचन्द्रिका)

"विरोधाभास"— स्नेहसे भी चिकनी नहीं होती, 'स्नेह' और 'रूखा' पद श्लिष्ट हैं। स्नेह=तैल और प्रीति। रूखा=रूक्ष और अप्रसन्न। "विशेषोक्ति"

—स्नेह कारणसे चिकनाहट कार्य्य न हुआ।

"मीर" का यह शेर, भी कुछ कुछ इसी भाव का है-

"आखो ही में रहे हो दिल से नहीं गये हो,

हैरान हू य गोरसी आई तुम्हें कहा में?



८१

औरै गति औरै वचन भयो वदन रंग और।
द्यौसकतें पिय चित चढ़ी कहै चढ़ौहैं त्यौर॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

—अर्थ —(औरै गति)—और ही तरहकी निराली चाल है, (औरै वचन)— वचन भी और ही तरहके हैं, (वदन रंग औरै भयो)— मुहका रंग भी कुछ और ही हो गया है, (चढ़ौहैं त्यौर कहै)— चढ़ी हुई त्यौरी कहती है कि (द्यौसकतें पिय-

चित चढी) – दो एक दिनसे तू प्रियके चित्तपर चढ गयी है !

नायिकाकी चाल ढाल, रूप रंग, और तौर ढग, बदले देखकर सखी कहती है कि मालूम हुआ, तू कुछ दिनोंसे प्रियके चित्तपर चढा है, इसीसे यह रंग चढा है। इसीसे यह सब बातें हैं।

लक्षिता नायिका ।

अलङ्कार— " भेदकातिशयोक्ति "— औरै" पदके योगसे । "वृत्त्यनुप्रास"—चकार से ।



८२

रही फेरि मुँह हेर इत हित समुहे चित नारि ।
दीठि परत उठि पीठको पुलकें कहत पुकारि ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (मुह फेरि इत हेर रही)— तू मुह फेरे इधरको देख रही है, पर (नारि, चित, हित समुहे)— हे नारी। तेरा चित्त हित—प्रिय— के सामने है। (दीठि परत)— नायककी दृष्टि पडनेसे (उठि पीठकी पुलकें)— उठे हुए पीठके रोमाञ्च (पुकारि कहत)— इस बातको पुकारके कह रहे हैं ।

मानिनी नायिका, नायककी ओर पीठ फेरे, सखियोंकी तरफ देख रही है, या प्रीति छिपानेके लिये, नायकको ओर पीठ किए बैठी है। पर उसे नायकके देखनेसे सात्विक रोमाञ्च हो रहा है । सखी कहती है कि तू कितना ही

उधरसे मुंह फेरकर इधरको बैठ, तेरा चित्त उसी तरफ है,इस बातको हम नहीं, तेरी पुलकित पीठ पुकारकर कह रही है। मुंह फेरनेसे क्या होता है! जो बात है वह पीठ कह रही है! –"लक्षिता"* नायिका।

१— अलङ्कार— "अनुमान"— पुलकसे प्रीतिका ज्ञान। २–"पांचवीं विभावना"–'मुंह फेरनेसे भी हित(प्रिय)सामने रहा'–यह विरुद्ध कार्य्य। ३–"काव्यलिङ्ग"—प्रीतिका पीठकी पुलकसे समर्थन किया। ४ "छेकानुप्रास" हित, चित, दीठि, उठि, इत्यादि।

इसी भावकी एक प्राकृत गाथा "गाथा सप्तशती"में भी है। यथा ——

"अवलम्बिअमाणपरम्मुहीए एन्तस्स माणिणि पिअस्स।

पुट्ठपुलउग्गमो तुह कहेइ समुहट्ठिअं हिअअम्॥"

("अवलम्बितमानपराङ्मुख्या आगच्छतो मानिनि! प्रियस्य।
पृष्ठ-पुलकोद्गमस्तव कथयति समुखस्थित हृदयम्॥") १।८७॥

× × ×

—प्रणयकलहमें कुपित नायिकासे सखी कहती है कि तू "अवलम्बित मान"— पकड़े हुए— बनावटी मान—से मुँह फेरे बैठी तो है, पर तेरा "पृष्ठ-पुलकोद्गम"— पीठकी पुलकें, रोमाच—पीठकी ओर आये हुए प्रियको यह सूचना दे रहा है कि हृदय तेरा नायकके 'सम्मुखस्थित'—सामने —है।

तू बनावटी मानसे नायककी ओर पीठ किए बैठी है, पर पीठकी पुलकावलि कह रही है कि मुंह किधर ही हो हृदय तुम्हारे (नायकके) सामने ही है।

*"परिहासपूर्वक हेत लखित कियो, मानाभास" (प्रतापचन्द्रिका)

—दोनोंमें बहुत साम्य है —'पराङ्मुखी'— 'मुँह फेरि'—'पृष्ठ-
पुलकाङ्ग' —"पीठकी उठी पुलकैं"। "हितसमुहे चित"— "सम्मुख
स्थित हृदयम्"। 'कहत'— "कथयति"—सब कुछ एक समान है।
गाथामें मुह फेरकर बैठनेका कारण 'अवलम्बित-मान' पदसे
स्पष्ट कह दिया है। दोहेमें यह गूढ है कि मानसे नायक-
की ओर पीठ किए है या लज्जासे। और यही कुछ अच्छा
मालूम होता है। दोहेमें पीठपर पुलकें उठनेका कारण दृष्टि-
का पडना कह दिया है। गाथामें नहीं कहा है। नायक-
की दृष्टि पडनेसे पीठपर पुलकें उठ आना, अनुरागातिशय
और सौकुमार्य्याधिक्यका द्योतक है। इस विशेषता और
मदारकाको सुन्दर रचनासे दोहा बढ़ गया है। सहृदय जन
इसमें साक्षी हैं।

——*——

८३

वे ठाढे[ढ़े]उमदा[ड़ा]त उत जल न बुझै बडवागि
जाही सौं लाग्यो हियो ताही के उर लागि ॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

—अर्थ (वे।उत ठाढे उमदा[डा]त)—वह (नायक)
उधर खडे आलिङ्गनके लिये उमडा रहे हैं। अथवा आलिङ्गन-
की उम्मीदमें हैं। (जल बडवागि न बुझै)—जलसे बडवाग्नि
नहीं बुझती, (जाहीसौं हियौ लाग्यौ)—जिनसे तेरा हृदय

नायकको देख नायिका चेष्टा करे है तहां सखी वचन। "वे ठाटे, उमदाहु
उत"—ये ठाढे, ये नायक ठाटे हैं 'उत'—उनकी ओर 'उमदाहु'—उन्मत्त की
सी चेष्टा करौ। कोई " उमदाहु " को अर्थ—तेरी उमेद में ठाढे हैं'—करत
हैं।" (हरिप्रकाश)

लगा है—दिल मिल रहा है—अथवा "जा ही सों हियो लाग्यो"— जिसकी छातीसे तेरी छाती लग चुकी है (ताही के उर लाग) उसीकी छातीसे लग।

नायकको सामने देख नायिका, प्रेमचेष्टा करती है, सखीसे लिपटती है। सखी कहती है वह सामने खड़े उमड़ा रहे हैं उनसे जाकर लिपट, मुझसे क्यों चिमटती है। मेरी छाती लगनेसे तेरी कामाग्नि न बुझेगी, किन्तु प्रियके हृदय लगनेसे ही बुझेगी, यह भाव। क्योंकि पानीसे (वड़वानल) पानीकी आग नहीं बुझती।

लक्षिता नायिका।

१— अलङ्कार— "अर्थान्तरन्यास"— वे ठाढे(ड़े),—विशेषका 'जाहीसे लाग्यो' —सामान्यसे समर्थन किया। २— "दृष्टान्त"—(प्रतापके मतमें) यथा — जैसे बडवाग्नि ईशकी बुझाई बुझती है जलसे नहीं बुझती, वैसे— नायक जो तेरा ईश (स्वामी) है उसीसे तेरी कामाग्नि बुझेगी मेरी छाती लगनेसे नहीं बुझेगी"।——

कवि परमानन्दके मतमें "लोकोक्ति"—"दृष्टान्त"—यथा—

'शम नोपैति वाडवो विना समुद्रजलेन।'

एतल्लोकदृष्टान्तेन द्रढयति इहास्मिन् लोके समुद्रजलेन विना वाडवो—वडवानल—शम—शान्ति—नोपैति।"

अर्थात् जैसे समुद्र-जलके विना (अन्य जलसे) वाडवाग्नि शान्त नहीं होती, ऐसे ही मुझसे लिपटनेसे तेरी कामाग्नि शान्त नहीं होगी। इस प्रकार बिम्ब प्रतिबिम्ब भावसे "दृष्टान्तालङ्कार" है। और ऐसा लोकमें प्रसिद्धिमें है, इसलिये "लोकोक्ति" भी है।

"स्वभावोक्ति" और काकूक्ति" (अमरचन्द्रिकाके मतमें)— नायिकाका सखीसे इस तरह लिपटना, "स्वभावोक्ति"। सखी-का यह कहना कि "जल न बुझै वडवागि"— अर्थात् मुझसे लिपटनेसे काम न बनेगा किन्तु नायकसे लिपट, यह "काकूक्ति" !



सुरत-लक्षिता-वर्णन

८४

लाज गरब आरस उमँग भरे नैन मुसकात।
राति रमी रति देति कहि औरै प्रभा प्रभात॥

(सखीका वचन नायिकासे*) —

अर्थ — (लाज, गरब, आरस, उमँग, भरे नैन मुसकात)— लज्जा, गर्व, आलस्य, उमग (उत्साह) इनसे भरे तेरे नेत्र मुसकरा रहे हैं। अथवा, उक्त लज्जादि तेरे नेत्रोंमें भरे हैं, और तू मुसकरा रही है, (राति, रति रमी)— आज रात प्रीतिसे या रतिमें तू रमी है, नायकसे विहार किया है, इस बातको (प्रभात औरै प्रभा कहि देत)— प्रातःकालके समय और दिनसे विलक्षण शोभा कहे देती है।

* 'अन्यसम्भोगदु:खिताकी भी उक्ति, खण्डिताकी उक्ति। विपरीत रमाकी रति औ प्रभा कहती है, लाज लोककी। हमें ऐसी नायिका मिली है या ते गरब। आलस रात जागे हो तासों तुम दिये है। और उमगभरे तुमारे नैन हैं औ तुम मुसक्यात हो औरि दिन औरि प्रभा आज औरि प्रभा।" (हरिप्रकाश)

—लज्जा— स्वाभाविक सखीजनादिकी । गर्व— नायकको वशकर सपत्नियोंपर विजय पानेका । आलस्य— रतजगे और रति रणके श्रमका और उसके साथ ही अपूर्व रति-रत्न लाभ की उमंग। साधारणतः परिश्रमजन्य आलस्यके साथ उमंग नहीं होती, इसमें उमंग भी मिली है। ये सब परस्पर विरुद्ध भाव नेत्रोंमें पडे झलक रहे हैं, जिनसे एक अद्भुत शोभा प्राप्त हो रही है।

—साधारण लज्जा और आलस्यमें आँखें अच्छी तरह खुलती भी नहीं पर इस विलक्षण लज्जा और आलस्यके साथ गर्व और उमंग भी है जिनसे आखें मुसकरा सी रही हैं! ये एक एक, रातकी रतिकी गवाही दे रहे हैं।

१— अलङ्कार— "भेदकातिशयोक्ति"— "औरै" पदसे।

२— "तुल्ययोगिता"—'भरे'—एक क्रियासे (पूर्वार्द्धमें)।

३— "पर्य्याय द्वितीय"— एक नेत्र या नायिकामें लाज आदि अनेकका निवास होनेसे।



८५

नट न सीस साबित भई लुटी सुखनकी मोट।
चुप करिये चारी करति सारी परी सरोट॥

(नायिकासे सखीका वचन)—

अर्थ— (नट न)— मुकरे मत, इनकार न कर, (सुखनकी मोट* लुटी साबित भई)— तैने सुखोंकी गठड़ी लूटी है, सो साबित हो गयी। (ये सरोट परी सारी)—

* मोट— पोट, गाँठ, गठड़ी। सुखोंकी मोट— बहुत सुख।

यह सलवट पड़ी साडी (चुप करि चारी करति)—चुपके-से चुगली कर रही है। अथवा—(चुप करि)— नायिका-की उक्ति कि, चुप रह, झूठा इलज़ाम मत लगावे। आगे सखीका वाक्य— कि, मैं क्यों चुप रहूँ, तेरी मसली हुई साडी ही चारी (चुगली) कर रही है, इसे चुप कर !

"सुरतलक्षिता"से सखी सुख लूटनेका हाल पूछती है, यह मना करती है, तब सखी सलवट पड़ी साडीको साक्षी—(मौक़े वारदातका चश्मदीद गवाह !)—बनाकर अपना पक्ष सिद्ध करती है कि बस चुप रह, बहुत बातें न बना, सुखकी पोट लूटनेका पता तो जहा तहासे सुकडी हुई मली दली तेरी यह साडी ही दे रही है !

—मानो तेरे इस सफेद झूठपर साडीको क्रोध आ रहा है ! जिससे इसके (साडीके) चेहरेपर सलवटें पड गयी हैं ! !

१— अलङ्कार—"काव्यलिङ्ग"— सुखकी लूट, सलवटपडी साडीसे दृढ की।

२— "अनुमान"—साडीकी सलवटोंसे सुरतका 'अनुमान' किया। ३— "लोकोक्ति"— 'सीस साचित भई' में। ४— "पहली विभावना"— जो बोले सो चुगली करे, साडी बोलती नहीं, और चुगली करती है ! ५— "सम्बन्धातिशयोक्ति"— "मोट" पदसे।

—"सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम् ।"

"सम्बन्धातिशयोक्ति जा देत अजोग हि जोग।"

—सुखोंकी मोट बाँधना, अयोगको योग देना है। (सुख कोई अनाजकी ढेरी नहीं है, जिसकी मोट बँध सके)—

६— "छेकानुप्रास"—'चारी—सारी' में। ७—"वृत्त्यनुप्रास"—सकार रकारसे।



८६

मो सों मिलवति चातुरो तू नहिं भानति भेव।
कहे देत यह प्रगट हो प्रगट्यौ पूस पसेव॥

(सखीका वचन नायिकासे)— ❀

अर्थ— (मो सो चातुरी मिलवति)— मुझसे चतुराई चलाती है। (तू भेव † नहिं भानत)—तू भेद नहीं फोड़ती—भेदकी बात नहीं कहती। (यह प्रगट्यौ पूस पसेव †)—यह प्रकट हुआ पौष मासका पसीना ही (प्रगट ही कहे देत)— जो बात है उसे प्रकट कहे देता है।

तू तो मुझसे भेद छिपाती और चतुराईकी चाल चलती है, पर पौष मासमे तेरे शरीरपर झलका हुआ यह पसीना, सब कुछ साफ कह रहा है। क्यों?

❀"सखीकी उक्ति नायिका सो है, जो पसीना सुरतिको है (सुरत-श्रम जन्य है) तो नायिका लज्जिता है, जो सात्त्विक भाव है तो सखी उपालम्भ मिस परिहास करति है।" (प्रतापचन्द्रिका)

† पाठान्तर— भेद। प्रस्वेद।

— अलङ्कार१— "विभावना" पहली—

—"बिन कारन कारज उदय, ग्रीषम बिन प्रस्वेद"। (अमर-च०)

२— "काव्यलिङ्ग"—पौषके प्रस्वेदने रतिको दृढ किया।

३— "वृत्त्यनुप्रास"— 'पकार' से। "छेकानुप्रास"— मानति भेव' में।

८७

सही रँगीले रति-जगे जगी पगी सुख चैन।
अलसौंहैं सौंहैं किये कहैं हँसौंहैं नैन॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ— (सही, रँगीले* रतिजगे जगी)— सही है= बिलकुल सच है= कि तू 'रँगीले' रतिजगेमें जगी है — कुल-देवता या विवाहोत्सवादिके रतजगेमें नहीं, किन्तु रँगीले—रतिके रतजगेमें जगी है — (सुख चैन ‡ पगी)— सुख चैनमें—

---

*"रँगीली"— पाठान्तरमें, हे रँगीली! यह अर्थ। "रतिजगे"— श्लेषम, रतिके लिये जो जागरन तामे जगी है। (हरिप्रकाश)

‡ "सुख चैन"की पुनरुक्तिसे बचनेके लिये हरिकविने "सुख चयन" (सुखोंका समूह। चय—समूह, 'न' बहुवचन वाचक) अर्थ किया है। और लल्लुलालजीने —"चैन यह"— कि विरहकी पीर मिटी, और 'सग' का सुख हुआ"— यह अर्थ किया है। परन्तु 'सुख चैन' एक साथ बोला जाता है, ठठ मुहावरा है।

अत्यन्त सुखमें— पग रही है। (अलसौहैं, हँसौहैं, सौंहैं किये, नैन, कहैं)— इसे, आलस भरे—उनींदे, और हँसौहैं—हास्य युक्त—हँसीले— तेरे नेत्र 'सौंहैं किये"—सौगन्द खाकर कह रहे हैं। अथवा 'सौंहैं किये हँसौहैं'—सामने करनेसे जिनमें हँसी आ रही है, ऐसे ये नेत्र कह रहे हैं।

आलस्य, हर्ष सञ्चारी। आकृति अनुभावसे 'लक्षिता' नायिका।

—अलङ्कार१— "काव्यलिङ्ग"—'अलसौहैं नेत्र'– इत्यादि-से रतिका रतजगा दृढ किया।

५—"अनुमान"—अलसौंहैं नेत्रोंसे रतजगेका अनुमान है। ३—"यमक"—अलसौंहैं हँसौहैं— इत्यादिमें। ४—"छेकानुप्रास" —जगी पगीसे। और, ५— "वृत्त्यनुप्रास"। काव्यलिङ्ग, यमक, और अनुप्रासकी –"संसृष्टि"।



८८

औरै ओप कनीनकनि गनी घनी सिरताज।
मनौ धनीके नेह की बनी छनी पट लाज॥

(नायिकासे सखीका वचन)*—

अर्थ — (कनीनकनि† औरै ओप)—तेरी कनीनिकाओं

---

* 'सखीकी उक्ति सखी (नायिका) सौं, नायिकाकी स्तुति करति है। कनीनिका, नेत्रपुत्रिका, वितर्क भाव ध्वनि है।" (अनवरचन्द्रिका)

–"अन्यसंभोगदुःखिताको वचन सखीसों। किंवा लज्जिता सौं सखीवचन। (हरिप्रकाश)

† 'रसचन्द्रिका'में 'कनीनि—कन' पृथक् पद मानकर 'कनि' को 'मनौ' के साथ अन्वय किया है, अर्थात् कनीनि—कनीनिका, मनौकी 'कनी' है।

-आंखोंकी पुतलियों—में कुछ और ही कान्ति है, (घनी सिरताज गनी)— बहुतसी कनीनिकाओंकी वह (तेरी कनीनिका)-सिरताज गिनी गयी—मानी गयी— है। (पट-लाज बनी, छनी)— लज्जारूप वस्त्रमें बनी— स्थित, छिपी या बँधी हुई भी, छनी—छन रही है—छनकर प्रकाश निकल रहा है।

सखी नायिकाकी प्रशंसा कर रही है कि तेरी पुतलियोंकी कान्ति कुछ और ही है, सबसे विलक्षण है। तेरी कनीनिकाएँ सैकडोंकी सरदार हैं, स्वामीके स्नेहकी मणि हैं। यद्यपि लज्जारूप वस्त्रमें बँधी और छिपी हैं तो भी उनका प्रकाश छनकर बाहर निकल रहा है। मणिके प्रकाशको कपडेका आवरण छिपा नहीं सकता।

इस दोहेपर 'अमरचन्द्रिका'की 'वार्त्ता' और हरिकवि-की व्याख्या इसप्रकार है —

"अर्थ स्त्रि-पियके नेह की "मनी"—मनीके द्वै अर्थ, एक गर्व, एक मणि। सो यह (मणि) लज्जारूपी पट (वस्त्र) में 'छनी'—छनी है, लाज में छिपावती है तऊ प्रगट होति है। जैसे निर्मल मणि की कान्ति पट में बाँधे हू छनि निकसती है। या के अर्थ और हू हैं, पर यह मुख्य है। 'मनी' शब्द श्लिष्ट।" (अमरचन्द्रिका)

दोहेके जिन 'और अर्थों' की ओर सुरतिमिश्रने ऊपर इशारा किया है, वे हरिकविने लिखे हैं। तद्यथा—

"कनीनिका" जो तेरी आँखोंकी पुतली है, उस में आज और ही (और दिन से विलक्षण) 'ओप' चमत्कार या प्रकाश है कनीनिका कैसी है कि अन्य नायिकाओंकी 'घनी' बहुत जो कनीनिकाए उनका 'सिरताज'— सरदार है, और "मनी धनीके नेह की" —धनी-

—(नायक) के स्नेह की 'मनी' है। नायकका स्नेह इससे ही औरसे नहीं, इस प्रकार मनी— मानने वाली— है। अथवा नायक स्नेहकी 'मणि' —(मणिके तुल्य)— प्रकाशक है। उन कनीनिकाओं पट-छनी लाज बनी है। बड़ी लज्जा तो जाती रही है, पर पट-छनी- सूक्ष्म— लाज अबतक बनी हुई है। स्पष्टपन कीहुई चीज़ है होती है!"—

अथवा— 'मनी —रूप गुणका गर्व करने वाला 'मानी'— नायक है, उसकी वह (कनीनिका) 'बनी' दुलहिन है, अर्थात् नायक का स्नेह इनसे लगा रहता है। नायकका स्नेह 'घना' —ठुस्स और कनीनिका 'बनी' है। जो लाज के पट— वस्त्र—में 'छनी' आच्छन- छिपी है" —(हरिकवि)

"कनीनिका' आंख का तारा। तात्पर्य्य— 'औरै ओप कनीनिका तेरी आंखके तारोंमें और ही छवि है। "गनी घनी सिरताज" — तुझ में बहुतोंकी सिरताज समझती हूँ। "मनी बनी के नेह की बनी" = प्रियके प्रेमकी बनी मणि, "छनी पट लाज" — लाजके कपड़े से छ रही है। अर्थात् लाज करने से छिपती नहीं।"—(व्यासजी)

— अलङ्कार१— "भेदकातिशयोक्ति"— "औरै" पद योगसे। २— "तीसरी विभावना"— प्रतिबाधक— लज्जारूप वस्त्र भी प्रकाश छन रहा है। ३— "वृत्त्यनुप्रास"— गनी, घनी इत्यादिमें स्पष्ट ही है।



८६

ह वसन्त न खरी गरम अरी न सीतल वात।
ह क्यौं प्रगटे देखियत पुलक पसीजे गात॥

(सखीका वचन नायिकासे)–

अर्थ—(यह वसन्त)—यह वसन्तऋतु है, (अरी)—
े सखी। (न खरी गरम)—न अधिक गरमी है, (न
तल वात)—न शीतल वायु है। फिर (कह, पसीजे
ा)—बतला, पसीजे—पसीना आये हुए—शरीरपर
लक प्रगटे क्यों देखियत)—रोमाञ्च उठे हुए क्यों
ते हैं।

नायकके सन्निकर्षसे नायिकाको सात्त्विक रोमाञ्च
और पसीना हो आया है। अथवा 'रतिलक्षिता' नायिका-
। उससे सखी पूछती है कि यह वसन्तऋतु है, इसमें न
न गरमी पडती है जो पसीना लावे, और न ऐसी ठंडी
ा ही चलती है, जिससे रोमाञ्च हो आवे। फिर तेरे
रीरपर यह पसीना और रोमाञ्च क्यों प्रकट हुए दीख
हे हैं। पसीनेके लिये गरमी और रोमाञ्चके लिये सरदीका
हाना तो नहीं चल सकता, इसका कोई और ही कारण है, जिसे
छिपाती है, पर वह छिप नहीं सकता।

इस दोहेमें 'क्रम हीनता' दोषकी शङ्का उठाकर, पहले टीका-
ारोंने कुछ समाधान किया है, कि दोहे के पूर्वार्द्ध में पहले
रमी' फिर 'शीतल वात' है। इसी क्रमसे उनके कार्य्य 'पसीजना'
सीना आना) और 'पुलकित होना' आने चाहिए थे, परन्तु
सा नहीं है। पहले 'पुलक' और पीछे 'पसीज' है। इस प्रकार
हा 'क्रमहीनता' (प्रक्रमभङ्ग) दोष है।

अमरचन्द्रिकामें आधाराधेयभाव की कल्पना करके इस का निवारण किया है। तद्यथा :—

प्रश्न—"१गरम २ सीत कहि पुनि, २ पुलक अरु १पसीज 'क्रमहीन',

उत्तर—"अरी पसीजे गात में दिखियत पुलक सुलीन॥"

—अभिप्राय यह कि 'पसीजे गात' आधार है। 'पुलक' आधेय है। पसीजे गातमें पुलक है। इस प्रकार 'पुलक' जो शीतल बात का कार्य्य है, पीछे ही पड़ा। पसीजना, जो गरमी का कार्य्य है वह पहले रहा।

इस बातको अमरचन्द्रिकाकारने एक उदाहरण द्वारा विस्पष्ट किया है—

"जैसें सब तीर्थ पुष्कर में देखे—यहा पुष्कर कौ भाव प्रगट होत है (नाम प्रथम ही प्रगट होता है।)"

'रसचन्द्रिका' में यह समाधान दिया है कि :—

" सो यह बात दोहरे के छन्द के वास्ते धरी है, यामें दोष नहीं, बहुत जगह आयो है।"—

यहाँ- क्रम विवक्षित नही है —इत्यन्ये।

अथवा—दोहे का 'सोरठा' कर देनेसे 'क्रमभङ्ग' दूर सकताहै।

यथा—

'अरी न सीतल बात, यह बसन्त न खरी गरम।

पुलक पसीजे गात, कह स्यौं प्रगटे देखियत॥'

सतसई में और भी कई सोरठे हैं।

हरिकविने खण्डिताकी उक्तिमें लगाकर यह अर्थ किया है कि—

"खण्डिता कहती है कि हे सखी! तू क्यों गात में (नायक के) प्रगट पुलक देखियतु है, जानति हौं (मैं जानती हूँ) राट सो 'पसीजे'— राजी भये"

अलङ्कार—१—"विभावना"—विना गरमी के प्रस्वेद और विना सरदी (कारण) के रोमाञ्च (कार्य) हुआ।

श्रीप्रतापने 'खरो' क्रियाका अन्वय खरी गरमी और खरी सीतल वात, दोनोंके साथ मानकर, "एक क्रिया तैं "तुल्ययोगिता"— भी मानी है।



६०

मेरे बूझे बात तू कत बहरावति बाल।
जग जानी विपरीतरति लखि बिँदुली पिय भाल॥

(नायिकासे सखीका वचन*)—

अर्थ —(बाल)=हे बाल! (मेरे बूझे बात, तू कत बहरावति)=मेरे पूछनेपर तू बात को क्यों छिपाती है, क्यों बहकाती है,! (पिय-भाल, बिँदुली लखि)=प्रिय के माथेपर बिन्दी देखकर, (जग, विपरीतरति जानी)= जगत ने विपरीत रति जान ली!

सखीने नायकके माथेपर बिन्दी लगी देखकर अनुमान किया कि इन्होंने 'विपरीत लीला' की है—नायिकाने नायकका और नायकने नायिकाका पार्ट Part लेकर विपरीत विहार किया है—सो वह नायिकासे कहती है कि मेरे पूछनेपर तू क्यों छिपाती है? तेरे प्रिय के—(विपरीतरति में "नायिकायमान" नायकके)— माथेपर लगी बिन्दीहीसे एक मैंने क्या, जगत् ने, तुम्हारी यह 'उलटी बात' जान ली!

---

* "नायिका पं अयहित्या मञ्चारी। विपरीत रति सखीने तर्क-भाव तें लखित करी। एक मत से नायिका मध्या। (रसनयरचन्द्रिका)

अलङ्कार—१-"अनुमान"—नायकके माथेकी बिन्दीसे विपरीतरतिका अनुमान। (अमरचन्द्रिकाके मतसे)। २-"काव्य-लिङ्ग"—विपरीतरति का समर्थन बिन्दी से किया। (अनवर-चन्द्रिकाके मतसे)। जग जानी—'लोकोक्ति,' और 'छेकानुप्रास'-का एकवाचकानुप्रवेश सङ्कराल्ङ्कार। (प्रतापचन्द्रिका)।

इसी दोहेके भावकी एक "आर्य्या" भी है—

"उपसि परिवर्तयन्त्या मुक्तादामोपवीतता नीतम्।
पुरुपायितवैदग्ध्य ब्रीडावति! केर्न कलित ते॥" १२१ (आ०स०)

—सखी, 'लक्षिता' नायिकासे कहती है कि—मोतियोंका हार जो तैंने रात जनेऊ की तरह डाल लिया था, उसे अब तू प्रात काल के समय ठीक कर रही है, (फिर पूर्ववत् मालाकी तरह पहन रही है) इसीसे हे लज्जावति! तेरी पुरुपायित-विदग्धता, किसने नहीं जान ली!

—अर्थात् मेरे पूछने पर तो तू बड़ी लज्जावती बनती है, परन्तु जनेऊ-की तरह पहनी हुई इस मोतियोंकी मालासे एक मैंने ही क्या सबने तेरी विपरीत-रति-चतुरता की धृष्टता जान ली!

—इस प्रसङ्गमें गलेके हारको जनेऊकी तरह डालनेमें दो कारण हो सकते हैं। एक तो वह(हार)नीचेको लटकता हुआ विपरीत व्यापारमें बाधक न हो। दूसरे- "पुरुपायमाणा"को पुरुपका चिह्न-(जनेऊ)-धारण करना ही चाहिए!!

- विहारीने प्रियके माथेपर बेंदी लगाकर इस भावको और अच्छी तरह जगत्प्रसिद्ध कर दिया है।

। यशवन्तयशोभूषणके ६४ पृष्ठपर इस दोहेका संस्कृतानु-
ाद यह दिया है—

"पृष्टे ! मया किमु त्वं गोपायसि ते प्रियस्य मालगतम् ।
निन्दु निलोत्य बिम्बैर्विपरीता ते रतिस्तु सविदिता ॥

६१

दुति दुराई दुरति नहिं प्रगट करति रति रूप ।
टे पीक औरै उठी लाली ओठ अनूप ॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ —(सुदुति दुराई नहि दुरति)= यह सुन्दर द्युति
न्ति)छिपाए नहीं छिपती। किन्तु (रतिरूप प्रगट करति)=रति-
पको प्रकट कर रही है। (पीक छुटे)=पानकी पीक छुटने-
(ओठ औरै अनूप लाली उठी)= होठपर और ही अनुपम
ी चमक उठी।

नायकने अधरपान किया है, इसमे नायिकाके अधरसे
की पीक तो छुट गयी है, पर चुम्बनके आघातसे पानकी
से विलक्षण एक और ही सुर्खी होठ पर झलक आयी है।

अथवा नायकके चुम्बन करनेसे नायिकाके होठपर
की पीक लग गयी है, जिसे छुड़ाकर यह रति चिह्न मिटा रही
सपर सखी कहती है कि इस प्रकार छिपाने से यह सुन्दर
नहीं छिप सकती, पानकी लाली छुड़ाई तो क्या हुआ,
छुड़ानेकी रगड़से एक और लाली चमक आयी !

सखी परिहासपूर्वक नायिकाके रूपकी प्रशंसा करती हुई कहती है कि तेरे कानके करनफूलका सोना तो कपोलकी कान्तिमे ऐसा मिल गया कि नजरही नहीं आता, और उसमें जडी लाल चुन्नी ऐसी पडी चमक रही है जैसे नायकके दन्तक्षतका चिह्न हो।

अलङ्कार—१-" मीलित "—रंगमें रंग मिल गया, अर्थात् सोनेकी तरको कपोलकी द्युतिमें ऐसी मिल गयी कि तरकी और कपोलमें भेद प्रतीत नहीं होता।

"मीलित, यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते।"

'मीलित' सो, सादृश्यतें भेद जबै न लखाय।"

२-"पूर्णोपमा"—'चुनी'—उपमेय। 'चौका-चिह्न'-उपमान। "चमकना'—साधारण धर्म। 'समान'- वाचक पद।

३-"लोकोक्ति"—'बीच ही बीच बिकान'—बीचही में बिक गयी, मोल भाव करनेकी नौबत भी न पहुची।

४-" वृत्यनुप्रास "— चकारकी अनेकबार आवृत्तिसे। "एकस्याप्यसकृत् पर" (काव्यप्रकाश)

—एक व्यञ्जनकी भी अनेकबार समता हो तो भी वृत्यनुप्रास होता है। और, एकवाचकानुप्रवेशसङ्कर'-(प्रतापचन्द्रिका)।

"मीलित और पूर्णोपमाका सङ्कर—(अमरचन्द्रिका)।

अथवा यदि सखी, सपत्नीसे नायिकाका रतिचिह्न छिपानेके लिये कहती है कि तेरी यह तरवनकी लाल चुन्नी, दन्तक्षतके समान चमक रही है, तो— "व्याजोक्ति"।



६४

पट कै ढिग कत ढांपियत सोभित सुभग सुवेख।
हद रदछद छबि देत यह सद रद-छदकी रेख॥

(सखीका वचन नायिकासेः)—

अर्थ — (पट ढिग कै कत ढांपियत)— कपड़ा आगेको सरकाकर क्यों छिपाती है, (सोभित सुभग, सुवेख[ष])— इस सुशोभित सौभाग्यके वेष– (रति-चिह्न)–को। अथवा हे 'सुभग'[गे !] सौभाग्यवती ! यह सुवेष (बिना ढके ही) सुन्दर प्रतीत होता है। (यह सद रद-छदकी रेख)— यह तुरतकी दन्तक्षतकी रेखा (रदछद, हद, छबि देत)—रदच्छद— होंठ–पर हद्द दर्जेकी शोभा देती है।

नायिका रति-चिह्न— दन्तक्षत– को कपड़ेसे छिपाती है, सखी कहती है, कि क्यों छिपाती है। यह दन्तक्षत इस दशामें क्या ही अपूर्व शोभा दे रहा है।

— अलङ्कार १,— "व्याजस्तुति"– (अमरचन्द्रिका)

२— "विभावना"— कपड़ेसे ढकना प्रतिबन्धक है, तो भी शोभा कार्य हो गया।

---

* किसीके मतमें यह खण्डिताकी उक्ति नायकसे है कि हे 'सुभग !' इस 'सुवेष'को कपड़ेसे क्यों छिपाते हो !" परन्तु नायकका, दन्तक्षत को कपड़ेसे छिपाना अच्छा नहीं मालूम होता। इसीमें सुरतिमिश्र कहते हैं कि "या को अर्थ 'लक्षिता' को है, नायक सों पट सों ढापनो असम्भव है"—हरिकवि भी ऐसाही लिखते हैं। पर इसी भावका एक संस्कृत पद्य है। "कलहान्तरिता' की 'शठ' नायकके प्रति उक्ति है—

"नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ॥"

३—"पर्यायोक्त"—एक ढङ्गसे बात कहना, प्रकारान्तरसे सुरतिके चिह्न कह दिये। (रसचन्द्रिका)

४—"काव्यलिङ्ग"— दन्तक्षतसे सुरतिको दृढ किया।

५—"वृत्त्यनुप्रास"— बहुत बार एक वर्णकी आवृत्तिसे स्पष्ट ही है। (प्रतापचन्द्रिका)।

६—"यमक"— 'रदछद-रदछद' दो बार आया है।

'रदच्छद'— होठ। 'सद'— सद्य कृत। रद-छद=रद—दांत—का, छद— क्षत,— घाव, अर्थात् दन्तक्षत।

इस भावका एक संस्कृत पद्य भी है —

"किं त्वं निगूहसे दूति ! स्तनौ वक्त्रञ्च पाणिना।

खण्डिता एव शोभन्ते शूराधरपयोधराः॥"

—नायिका दूतीसे परिहास करती है कि हे दूती ! अपने स्तनोंको और मुखको हाथसे क्यों छिपाती है ! शूरवीर पुरुष, होठ और स्तन, ये (रणमें और रतिरणमें खण्डित हुए ही शोभा पाते हैं !

मुदिता-वर्णन

"आँगो आग न मात"— ऐसा पाठ भी है— वहां यह अर्थ कि आगी (कञ्चुकी)में अङ्ग (कुच) नहीं समाते! अथवा— अँगिया फूले हुए अङ्गमें नहीं समाती।

पतिने परदेशसे अपने आनेकी खबर भेजी हैं। जिसे सुनकर "आगमिष्यत्पतिका" नायिका हर्षसे आगनमें फूली फूली फिर रही है।

— अलंकार१—"लोकोक्ति"= "आग न आँग समात" यह कहावत है।

२—"अधिक अलंकार" आँगी आधारमें, कुच आधेय नहीं समाते। आधारसे आधेय अधिक हो गया।

३—"यमक"— आँगन आगन"में।

———*———

अनुशयाना-वर्णन

३—"पर्यायोक्त"—एक ढङ्गसे बात कहना, प्रकारान्तरसे सुरतिके चिह्न कह दिये। (रसचन्द्रिका)

४—"काव्यलिङ्ग"— दन्तक्षतसे सुरतिको दृढ किया।

५—"वृत्त्यनुप्रास"— बहुत बार एक वर्णकी आवृत्तिसे स्पष्ट ही हैं। (प्रतापचन्द्रिका)।

६—"यमक"— 'रदछद-रदछद' दो बार आया है।

'रदच्छद'— होठ। 'सद'— सद्य क्षत। रद-छद=रद— दांत—का, छद— क्षत,— घाव, अर्थात् दन्तक्षत।

इस भावका एक संस्कृत पद्य भी है —

''किं त्वं निगूहसे दूति ! स्तनौ वक्त्रञ्च पाणिना।
खण्डिता एव शोभन्ते शूराधरपयोधरा ॥'

—नायिका दूतीसे परिहास करती है कि हे दूती ! अपने स्तनोंको और मुख-को हाथसे क्यों छिपाती है ! शूरवीर पुरुष, होठ और स्तन, ये (रणमें और रतिरणमें खण्डित हुए ही शोभा पाते हैं !

मुदिता-वर्णन

६५

कहि पठई मन भावती पिय आवनकी बात।
फूली आंगनमें फिरै आंग न आंग समात ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (पिय आवनकी बात)— प्रियके आनेकी बात (मनभावती कहि पठई)— मन चाहती प्रियाको कह भेजी है। (आँगनमें फूली फिरै)— आंगनमें— मकानके सहनमें- फूली फिरती है, (आंग आंग न समात)— अंगमें नहीं समाता।

"आँगी आग न मात"— ऐसा पाठ भी है— वहा यह अर्थ कि आगी (कञ्चुकी)में अङ्ग (कुच) नही समाते ! अथवा— अँगिया फूले हुए अङ्गमें नहीं समाती।

पतिने परदेशसे अपने आनेकी खबर भेजी है। जिसे सुनकर "आगमिष्यत्पतिका" नायिका हर्षसे आगनमें फूली फिर रही है।

— अलंकार१—"लोकोक्ति"= "आग न आँग समान" यह कहावत है।

२—"अधिक अलंकार" आँगी आधारमें, कुच आधेय नहीं समाते। आधारसे आधेय अधिक हो गया।

३—"यमक"— आँगन आगन"में।

अनुशयाना-वर्णन

९६

फिरिफिरिबिलखीह्वै लखतिफिरिफिरिलेतिउसास।
साइँ सिर कच सेत लौं बीत्यो चुनत कपास ॥

(अन्तरङ्ग सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ —(फिरि फिरि बिलखी ह्वै, लखति)—बार बार बिलखी—दुखित—हो देखती है (फिरि फिरि उसास लेति)— और बारबार उच्छ्वास-दुखसे दीर्घ सास-लेती है। (बीत्यो कपास)-बीती-जो समाप्त होनेको है, ऐसी कपासको [illegible] (सिर कच लौं चुनत)-पतिके सिरसे सफेद बालकी [illegible] रही है

अथवा "कपास चुनत, साई सिर सेत कच (चुनत) लौं, बीत्यौ"—कपास चुनते हुए उसे स्वामीके सिरसे सफ़ेद बाल चुननेके समान बीता—अर्थात् दु ख हुआ॥।

इसमें ध्वनि यह है कि कपासका खेत, बीनने वाली नायिकाका सकेत स्थान था। सो उसकी फसल हो चुकी है, बस यह आखरी बार, कपास बीननेकी बारी है। फिर कपासके पौदे उखाड डाले जायँगे। यही सोचकर वह बार बार दुखभरी दृष्टिसे खेतको देखती है और लम्बे सांस लेती है, उसे कपास बीनते समय ऐसा दु ख हो रहा है जैसे युवति स्त्रीको वृद्ध स्वामीके सिरसे सफेद बाल चुनते समय दु ख होता है।

वर्तमान-सकेत-स्थान-विघट्टना, अनुशयाना, परकीया ध्वनिपूर्ण होनेसे उत्तम काव्य।

अलङ्कार—"पूर्णोपमा"—कपास–उपमान। सिरकचसेत उपमेय। लौं– वाचक। बीनना—धर्म। (अमरचन्द्रिका)

—(प्रकृतमें 'कपास—उपमेय। 'सेतकच'—उपमान। ऐसा कहना उचित प्रतीत होता है।)

'फिरि फिरि' —वीप्सा।

'रसचन्द्रिका'में इसका अर्थ इस प्रकार है —

—"अनुमयाना-नायिका है। अर्थ प्रगट है। हेत यह है–सखी नाय सो कहै है कि हे साई! कपास जो बीता है, सो नायिका कपासको ऐसे चुनै, जैसे कोई अपने सुपेद बार चुनेतै दुखित होइ"–अलङ्कार दृष्टान्त, बिम्ब प्रति बिम्बभाव सो कहै, सो यहा कपास ऐसे चुने है जैसे साईके सिरके सुपेद बार 'पूरन उपमा' भी समझति है॥"

—रसचन्द्रिकाके इस अर्थमें तो 'साई', हे साई!—सम्बोध्य बना सुन रहा था, और अन्तमें 'अलङ्कार' में आकर 'साई के सिरके बाल उखडने लगे! अस्तु।

पाठान्तर—॥ 'बीत्यौ बिनति कपास" (अनवरचन्द्रिका)

इसीके भावसे मिलती हुई एक यह 'गाथा' भी है —

"णिप्पच्छिमाइँ असई दु क्खालोआइँ महुअपुप्फाइ।
चीए बन्धुस्स व अट्ठिआइँ रुअई समुच्चिणइ॥"

("निष्पश्चिमान्यसती दुःखालोकानि मधूकपुष्पाणि।
चितायां बन्धोरिवास्थीनि रुदती समुच्चिनोति॥ गा० स० २।४)

× × ×

— मधूक–(महुवा)–वृक्षके समीपका निकुञ्ज, किसी पुश्चलीका संकेत-स्थान था। फूल बीननेके बहाने वह वहां नित्य जाती थी और अपने प्रियसे मिलती थी। महुवेके फूलोंकी फसल हो चुकी है, आज फूल चुननेका अन्तिम अवसर है, सो संकेत-स्थानके विनाशके दुःखसे रोती हुई वह बचे खुचे फूल बीन रही है, यह देखकर कोई किसीसे कहता है कि—

—"असती, महुवेके फूलोंको, रोती हुई ऐसे चुन रही है जैसे चितामें बन्धुजनके फूलों (हड्डियों) को चुनती हो! फूल "निष्पश्चिम" हैं— अब इसके पीछे चुननेको नहीं मिलेगा—इसीलिये 'दुःखालोक'–हैं– उन्हें देखनेसे दुःख होता है।

गाथाके 'दुःखालोकानि' और दोहेके 'बिलखी ह्वै रराति' तथा, 'रुदती' और 'फिरि फिरि लेत उसास' 'निष्पश्चिमानि मधूकपुष्पाणि समुच्चिनोति' 'बान्या चुनत कपास'—ये पद बिलकुल एक भावके द्योतक हैं। और इसमें सन्देह नहीं कि बिहारीने इस गाथाकी छाया लेकर अपना यह दोहा बनाया है। परन्तु दोहा ध्वनिपूर्ण होनेसे "उत्तम काव्य" है। गाथाके "असती" शब्दने ध्वनिका चमत्कार कम कर दिया। 'असती' शब्द सुनते ही मूर्ख मनुष्य भी उसके रोनेका कारण समझ सकता है, इसमें 'सहृदयैकसंवेद्यता' नहीं रहती। परन्तु दोहेमें ध्वनि निगूढ है। सहृदय ही समझ सकते हैं। दोहेमें कपास चुननेवाली व्यक्ति स्त्री है, इसका पता केवल 'बिलखी' पदसे लगता है। इसके अतिरिक्त गाथाकी 'उपमा'—चितामें बन्धुके

फूलकी तरह—भी शृङ्गारमें उद्वेगजनक है। विहारीने उपमा बदलकर और ध्वनि भरकर गाथाका मजमून छीन लिया है।



९७

सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं धर धरहर हिय नारि॥

(सखीका वचन नायिकासे)—

अर्थ—(सन सूक्यौ)—सन सूख गया, (बनौ बीत्यौ)—बन—कपास—भी बीत चुकी—समाप्त हो गयी। (ऊखौ उखारि लई)—ईख भी उखाड़ ली गयी। पर (अरहर अजौं हरी हरी)—अरहर अभीतक हरी हरी है। इसलिये, (नारि, हिय धरहर धरि)—हे नारी! हृदयमें धीरज रख।

सन, बन—(कपास) और ईखके खेत, किसीके संकेतस्थान थे। सो एक एक करके नष्ट हो गये हैं। पहले सन सूखा, फिर बन बीता, पीछे ईख भी उखड़ गयी। इस विपत्ति-परम्परासे बेचारी नारी व्याकुल हो धीरज छोड़ बैठी है। उसे सखी धीरज बँधा रही है कि घबरावे मत, अभी अरहर हरी हरी खड़ी है।*

---

* इस गरीबकी हालत बिलकुल ऐसी ही हो रही है, जैसी इस उर्दू पद्यके पंछीकी—

"बनाया आशियां जिस जा वहीं सय्याद आ पहुँचा।
है गुजरी उम्र तिनके चुनते चुनते बागवां! मेरी।"

आशियाँ—घोंसला। सय्याद—बहेलिया—चिड़ीमार।

इसमें यह ध्वनि है कि संकेतके लिये अभी अरहर-खेत बना हुआ है और वह खूब हरा है, जल्दी सूखेगा।

"अनुशयाना" परकीया नायिका।

अलंकार—१—"काव्यलिङ्ग"—संकेत स्थान नष्ट होनेसे [चिं]तिता नायिका को धीरज बँधानेके लिये अभी संकेतस्थल [है,] इसका समर्थन, हरोहरी अरहरसे किया। (परमानन्द)

२—"वृत्त्यनुप्रास"—(अनवरचन्द्रिका)

३—"छेकानुप्रास" और "वीप्सा" (अमरचन्द्रिका) यथा—

"हरी हरी है वीपसा यह अति हेत विवेक।
अरहर धरहर 'छेक' यह प्रास बार जो एक।"

हरिकविने इसे 'मानिनी'*के मनानेमें भी लगाया है। यथा—

"मानिनीसे सखीका वचन —

'मन'—शनैश्चर और 'सुस्यो'—शुक्र, सो बीते—अस्त हो गये। [ब]नो' बनो ! (नववधू) "ऊखौ लई उसार" उषा—प्रभातवेला ने भी [ल]—उजाली ली। अर्थात् नक्षत्र अस्त हो गये और दिन निकल [आया]। पर तेरी 'अर'—अड़, हठ "हरी हरी" वैसीही हरी भरी है, वह कम [नहीं] हुई। "हरि अजौं" अब भी उसे "हर" दूर कर। और "हरि" जो [...] है उसमें चित्तको धारण कर, लगा। मान छोड़कर नायकमे [...] यह भाव।"

हरिकविके मतसे इस प्रकार "श्लेषालंकार" भी है।

"श्लेष' अलकृति अर्थ बहु जहँ शब्दनिमें होय"।

---

[*] मानिनीपक्ष-परक उक्त अर्थ सरतिमिश्रको इष्ट नहीं था। यथा—" ... 'अर प्रोषितपतिका और मानिनीका अर्थ बलवान् [...]।" (अमरचन्द्रिका)

परअनुरागिणी-वर्णन

९८

सतर भौंह रूखे वचन करत कठिन मन नीठि
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं दीठि

(नायिकाका वचन सखीसे)—

अर्थ –(सतर भौंह)—भौंहें टेढ़ी की, (रूखे वचन)—रू वातें भी कही, (नीठि मन कठिन करत)–किसी तरह मन भी कठ किया। पर (कहा करौं)—क्या करू (हरि हेरि)—हरिको दे कर, (दीठि हँसौंही ह्वै जाति)—दृष्टि हँसौंहीं-हँसीली जाती है।

सखी मानकी शिक्षा दे रही है। नायिका कहती है कि तो अपनी ओरसे मान करनेमें कसर नहीं करती, भौंहें चढ़ा हू। वातें रूखी करती हू, मन भी किसी तरह कडा कर लेती पर यह दृष्टि कृष्णको देखते ही हँस देती है, इसका क्या करू

"भावसंधि"। ईर्ष्याकी शान्ति, हर्षका उदय।

अलङ्कार–१—"विभावना"—टेढ़ी भौंहें आदि, दृ हँसौंहीं होनेमें पूरे बाधक हैं, तो भी वह वैसी हो ही जाती है

"प्रतिबन्धकके होत हू कारज पूरन मानि"

२–"वृत्त्यनुप्रास"—हकारकी आवृत्तिसे, स्पष्ट ही है।

इस दोहेका अनुवाद "यशवन्तयशोभूषण" में 'अम लंकार' के उदाहरणमें यह है —

"कुर्वे भ्रुकुटिमावध्य कृच्छ्रेण कठिन मन।
तथापि माधवे दृष्टे दृङ् मे भवति हासयुक्॥

६६

तु हू कहति हौं आप हू समझति वहुत सयान ।
लखि मोहन जौ मन रहै तौ मन राखौं मान ॥

(नायिकाका वचन सखीसे)—

अर्थ —(तु हू कहति)—तू भी कहती है और (हौं आप हू वहुत सयान † समझति)—मैं आप भी—विना किसीके सिखाए, बहुत सयानपन–चतुराई–जानती हूं । (मोहन लखि जौ मन रहै)—मोहनको देखकर जो मन रहे (तौ मन मान राखौं)—मनमें मान रक्खू ।

मन मोहनको देखकर मनही वशमें नहीं रहता तो मान रहे ।

अलंकार—१–"विशेषोक्ति"—स्वयं सब सयानपन समझना, और सखीकी शिक्षा, यह सहकारिसम्पन्न प्रसिद्ध कारण होने भी मान रखना–कार्य्य नहीं हुआ ।

"कार्याजनिर्विशेषोक्ति सति पुष्कलकारणे ।"
"पुष्कले–सहकारिसम्पन्ने, प्रसिद्धकारणसमूहे सतीति यावत ।"

"विशेषोक्ति जो हेतु सों कारज उपजत नाहि ॥"

२–"सम्भावना"—जो मन रहे तो मान रहे,—

"जो तौ' पद जहँ होइ, 'सम्भावन' है सोइ ॥"

३–"वृत्त्यनुप्रास" । ४–" विभावना " कारन बिन काज—
(प्रतापचन्द्रिका)

५–"विशेषोक्ति–"विभावना"का संकर"–(रसचन्द्रिका)

† "सबै सयान" "नीक सयान"—पाठान्तर ।

पत्यनुरागिणी-वर्णन

६८

सतर भौंह रूखे बचन करत कठिन मन नीठि
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं दीठि

(नायिकाका वचन सखीसे)—

अर्थ —(सतर भौंह)—भौंहें टेढी की, (रूखे बचन)—रू बातें भी कहीं, (नीठि मन कठिन करत)—किसी तरह मन भी कठ किया। पर (कहा करौं)—क्या करूं (हरि हेरि)—हरिको दे कर, (दीठि हँसौंहीं ह्वै जाति)—दृष्टि हँसौंही-हँसीली जाती है।

सखी मानकी शिक्षा दे रही है। नायिका कहती है कि तो अपनी ओरसे मान करनेमें कसर नहीं करती, भौंहें चढ़ा ले हूं। बातें रूखी करती हूं, मन भी किसी तरह कड़ा कर लेती पर यह दृष्टि कृष्णको देखते ही हँस देती है, इसका क्या करू

"भावसंधि"। ईर्ष्याकी शान्ति, हर्षका उदय।

अलङ्कार—१—"विभावना"—टेढ़ी भौंहें आदि, दृ हँसौंहीं होनेमें पूरे बाधक हैं, तो भी वह वैसी हो ही जाती है।

"प्रतिबन्धकके होत हू कारज पूरन मानि"

२—"वृत्त्यनुप्रास"—हकारकी आवृत्तिसे, स्पष्ट ही है।

इस दोहेका अनुवाद "यशवन्तयशोभूषण" में 'अभा लंकार' के उदाहरणमें यह है —

"कुर्वे भ्रुकुटिमाबध्य दृच्छ्रेण कठिनं मनः।
तथापि माधवे दृष्टे दृङ् मे भवति हासयुक्॥"

६६

तुहू कहति हौं आप हू समझति बहुत सयान।
लखि मोहन जौ मन रहै तौ मन राखौं मान॥

(नायिकाका वचन सखीसे)—

अर्थ—(तु हू कहति)—तू भी कहती है और (हौं आप हू बहुत सयान समझति)—मैं आप भी—बिना किसीके सिखाए आप, बहुत सयानपन–चतुराई–जानती हूं। (मोहन लखि जौ मन रहै)—मोहनको देखकर जो मन रहे (तौ मन मान राखौं)—मनमें मान रक्खूं।

मन मोहनको देखकर मनही वशमें नहीं रहता तो मान रहे।

अलंकार—१–"विशेषोक्ति"—स्वयं सब सयानपन सम-, और सखीकी शिक्षा, यह सहकारिसम्पन्न प्रसिद्ध कारण भी मान रखना–कार्य्य नहीं हुआ।

"कार्याजनिर्विशेषोक्ति सति पुष्कलकारणे।"
"पुष्कले–सहकारिसम्पन्ने प्रसिद्धकारणसमूहे सतीति यावत्।"
"विशेषोक्ति जो हेतु सों कारज उपजत नाहिं॥"

२–"सम्भावना"—जो मन रहे तो मान रहे,—

"जौ तौ' पद जहँ होइ, 'सम्भावन' है सोइ॥"

३–"वृत्त्यनुप्रास"। ४–"विभावना" कारन विन काज—
(प्रतापचन्द्रिका)

५–"विशेषोक्ति–"विभावना"का संकर"–(रसचन्द्रिका)

"सबै सयान" "मौक सयान"—पाठान्तर।

अमरुक कविके पद्यका यह उत्तरार्ध इसी दोहेके भ
मिलता है ।

" दृष्टेनैव मनो हृत धृतिमुषा प्राणेश्वरेणाद्य मे
तत्केनात्र निरूप्यमाणनिपुणो मान समाधीयताम् ।"

१००

दहैं निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत
हौ कसिकै रिसकौं करौ ये निरखै हँसि देत

(सखीसे नायिकाकी उक्ति *)—

अर्थ — (ये निगोडे नैन दहैं)— ये निगोडी आखे जार्य । अथवा ये निगोडी आखें मुझे दहती हैं—जलाती कहना नहीं मानतीं । (अचेत, चेत न गहैं)—ये अचेत बेहोश, होश नहीं पकड़तीं ! अथवा न 'चेत'— होश पकडती हैं, न 'अचेत' वेहोशी ही पकडती हैं ! (हौं कसि कै रिसको करौं)— मैं खींचकर- दृढतासे क्रोध करती (ये निरखे हँसि देत)— ये देखते ही हँस देती हैं ।

* "यह नेत्रोपालम्भ है, सखी नायिकाको दृढावति है कि मान करि, नायिका अपने नेत्रके स्नेहकी अधिकताई सखी कहति है ।" (कृष्ण कवि)

"नायिका वचन नेत्र सों" (हरिप्रक

"ये निरखे"की जगह "ये निसिखे" भी पाठ है। इस दशामें "निसिखे" नेत्रोंका विशेषण है। अर्थात् ये 'निसिखे' हैं—इनपर शिक्षाका असर नहीं होता, सिखानेसे भी नहीं सीखते, क्रोध करना सिखाती हू पर नहीं सीखते, शिक्षाको भूलकर झट हँस देते हैं!

सखी मानकी शिक्षा देती है। नायिका कहती है कि इन कमबख्त आंखोंके आगे पार नहीं बसाती। ये न चेत 'पकड़ती' हैं, न अचेत ही रहती हैं, मैं तो बहुत खींच तानकर क्रोध करती हू और ये उन्हें देखते ही हँस देती हैं।

अलकार—१—"लोकोक्ति"—निगोडे नैन जलें। 'निगोडा' स्त्रियोंकी गालीमें रूढ है।

२—"तीसरी विभावना"—क्रोध हँसीका प्रतिबन्धक कारण है, तो भी हँसी—कार्य्य होता है। ३—"वृत्त्यनुप्रास"।

(इति सतसई-सञ्जीवनभाष्ये श्रीपद्मसिंहशर्म प्रणीते प्रथम शतकम्।)



अथ द्वितीय शतक



१०१

मोहि लजावति निलज ये हुलसि मिलैं सब गात।
भानु उदयकी ओसलौं मान न जान्यो जात॥

(नायिकाका वचन सखीसे)*—

दोहार्थ —(ये निलज सब गात)—ये निर्लज्ज सारे अङ्ग, (मोहि लजावत)—मुझे लज्जित कराते हैं, क्योंकि (हुलसि मिलैं)—नायकको देखकर हुलसि–उल्लासपूर्वक–मिलते हैं। (भानु उदयकी ओस लौं)—सूर्योदय होनेपर ओसकी तरह (मान जात न जान्यो)—मान जाता हुआ नही जाना जाता।

मान सिखानेवाली सखीसे नायिका अपने अङ्गोंको उपालम्भ देकर कहती है कि कैसा मान? उलटा यह निर्लज्ज अङ्ग अपनी करतूतसे उसके सामने मुझे ही लज्जित करा देते हैं। एक दो नहीं, किसीको तो एक 'निगोडे नैनो' का ही रोना है, यहा ये सबके सबही, उसे देखकर उछल पडते हैं, दूरहीसे देखकर मिलनेको दौड पडते हैं! मैं अकेली किसे किसे रोकू! आंखोंको, कि कानों को! हाथोंको कि पैरोंको, या वाणीको! कोई रुपका लोभी है, तो कोई बातोंका रसिया, कोई आलिङ्गनका अभिलाषी है, तो कोई कुछ कहनेके लिये उत्सुक है! निदान ये सबके सब उसे देखतेही उठ दौडते हैं! मैं अकेली अपनासा मुंह लिए रह जाती हू। जैसे, सूर्यके उदय होते ही ओस स्वयं उड जाती है, ऐसे उसके आतेही मान न जाने कहा चला जाता है।

* "उत्तम नायिकाका वचन, अपने अंगो से कहे है" (रसचन्द्रिका)

बहुत अच्छी "पूर्णोपमा" है—मान- उपमेय। ओस- उपमान। उड जाना—साधारण धर्म। लौं- वाचक।

२-पाचवी "विभावना" भी सम्भव है। निर्लज्ज गात, लजाते हैं। विरुद्ध कारणसे कार्योत्पत्ति।

३-"वृत्त्यनुप्रास"—लकार, नकारकी अनेकवार आवृत्तिसे स्पष्ट ही है।

"दृष्टान्त"—उपमान उपमेयके, बिम्ब प्रतिबिम्बभावके प्रतिपादनसे। (कवि परमानन्दके मतमें)



१०२

खिंचे मान अपराध ते चलिगे बढ़े अचैन।
जुरत दीठि तजि रिस खिसी हँसे दुहुनके नैन॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ —(मान अपराधतें खिंचे)—नायिकाको मान नहीं छोड़ता और नायकको अपराध पकड़े हुए है—दोनों खिंचे बैठे हैं, पर (अचैन बढ़े चलिगे)—विरहव्याकुलता बढ़नेपर, दोनों मिलनेको चलही दिये। (दीठि जुरत)—दृष्टि मिलनेही (रिस- खिसी तजि)- क्रोध- नाराजगी और खिसियानपन छोड़कर (दुहुनके नैन हँसे)— दोनोंके नेत्र हँस दिये।

अथवा, नायिकाके नेत्र मानसे खिँचे हैं * और नायकके नेत्र अपराधजन्य लज्जा- खिसियान-से खिँचे हैं, पर 'अचैन' बढ़ने-पर, (दोनोंके नेत्र) मिलनेको चल पड़े, और नजर मिलतेही, मानके क्रोध (रिस) और अपराधकी लज्जा (खिसी) को छोडकर (दोनोंके नेत्र) हँस दिये। ‡

भावसन्धि—हर्षोदय, ईर्ष्याशान्ति। (मानमुक्ति !)

अलंकार—१—"प्रहर्षण"—

"उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्न प्रहर्षणम् ।"

"विना जतन वाँछित फल होय, पहलो भेद कहत |' कवि लोय।"

—सखीकी सिफारिश और दूतीके उपाय विना ही मेल होगया ! इससे अच्छा "प्रहर्षण" और क्या होगा !

२–" तुल्ययोगिता "– 'खिचे' यह एक क्रिया दोनोंको खींचे हुए है !

* 'नायिकाके नेत्र मानसो खिचे, नायकके नेत्र अपराधसों खिचे हैं "
(कृष्ण कवि)

‡—'नायिकाके नैन मान सों खिचे, और नायकके अपराध सों खिंचे। व्याकुलता बढने पै दोनों चले, जब दीठि दोनोंकी मिलि गई, तब नायिकाने तौ रिस छांडी, तब नायकने अपराधकी खिसान छोडी, सो दौनौके नेन हँसे।"
(रसचन्द्रिका)।

"खिसी—सरमिन्दगी लिये कछु गोसा, (गुस्सा)" (हरिकवि)

† २—"इच्छितहूतें अति फल लहै, दूजो भेद सुमति यह कहै।"

३—"जा को जतन कू कियत होइ, वस्तु हाथ आवे पुनि सोइ ॥"

त्रिविध 'प्रहर्षन' जानो मित्त, लच्छिन लच्छ अवधारहु चित्त।" (प्र० च०)

३–"यथासंख्य"—१ मान, २ अपराध, १ रिस, २ खिसी। सब यथासंख्य हैं।

"यथासंख्य क्रमेणैव क्रमिकाणा समन्वय।"

"१शत्रु २मित्र ३विपत्ति च, १जय २रञ्जय ३भञ्जय।"

—क्रमपूर्वक कहे हुए पदार्थोंका उसी क्रमसे अन्वय होना 'यथासंख्य' कहलाता है।

जैसे दोहेके पूर्वार्द्ध में 'मान, अपराध' हैं, उत्तरार्द्ध में उसी क्रमसे उनसे सम्बन्ध रखनेवाले "रिस" और "खिसी" हैं। या जैसे संस्कृतके उदाहरणमें—"शत्रु जय, मित्र रञ्जय, विपत्ति भञ्जय"—इस प्रकार क्रमपूर्वक अन्वय है।

३–द्वितीय–" पर्य्याय "– रिस, खिसी, गयी और उनकी जगह हँसी आयी।

४–'पोष्य पोषकभाव संकर'—सब अलकार 'पर्याय' के पोषक हैं। (प्रतापचन्द्रिका)



१०३

राति दिवस हौंसै रहै मान न ठिक ठहराय ।
जे तौ अवगुन ढूंढियै गुनै हाथ परिजाय ॥

(नायिकाका वचन सखीसे)—

अर्थ —(राति दिवस) रात दिन (हौंसै रहै)--हौंस-अवगुण ढूंढनेकी हविस–इच्छा–रहती है, पर (मान, ठिक, न ठहराय)—मान ठीक नहीं ठहराता, मान ठाननेका कोई ठीक कारण नहीं मिलता, या मान जरा भी नहीं ठहरने पाता, क्योंकि (जे तौ अवगुन ढूढियै)—जितना अवगुण ढूढो, (गुनै हाथ परि जाय)—गुण ही हाथ आ जाता है ।

सखी नायिकासे मान न करनेका कारण पूछती है, या नायिका स्वयं ही उससे नायककी अनुकूलताका वर्णन करती है कि मुझे रात दिन मान करनेकी "हौंस" (चाव)ही बनी रहती है कि मान करके देखू, पर मान करनेका कोई कारणही नहीं मिलता, मैं नायकके जितने अवगुण ढूढती हू, उतने गुणही हाथ आते हैं ।

इस दोहेको लल्लूलालजीने "सखीका वचन सखीसे" में लगाया है, और लिखा है कि—" इस दोहेमें नायका-वचन सखीसे कोई कहे तो न हो सके "—इसकी पुष्टिमें 'अमरचन्द्रिका' का प्रश्नका यह दोहा दिया है —

"अवगुन जाम है नहीं सो अनुकूल विख्यात ।
बने न तिय अनुकूल की ढूँढनि अवगुन बात "—

—अर्थात् जिसमे अवगुण न हो वही " अनुकूल " नायक कहलाता है, इसलिये 'अनुकूल' नायकमें उसकी स्त्रीका अवगुण ढूँढना नहीं बन सकता ।"—*

परन्तु कृष्णकवि, हरिकवि, परमानन्दकवि तथा रसचन्द्रिकाकारने इसे " नायिकाकी उक्ति सखीसे † । लिखा है। हरिकविने इसका नायक 'धीरोदात्त' माना है, और कहा है —
"चालकी रासिम रस बीस राकर रहे तो हाथ नहीं आवे " ।

अर्थात् अनुकूल और धीरोदात्तमें भी अवगुणोका होना और ढूंढना सम्भव है, पर गुणोंके ढेरमें अवगुण हाथ नही आते ।

अलङ्कार—१—"विशेषोक्ति"—(लालचन्द्रिकाकारके मतसे) यथा—

"ढूँढन 'कारण' है यहा अवगुण मिलै न 'काज' ।
अलङ्कार यो जानिये 'विशेषोक्ति' कविराज । "

२—"विषादालङ्कार"—(सुरतिमिश्र, हरिकवि तथा प० परमानन्दके मतसे) अभीष्ट—'अवगुण' ढूढनेका प्रयत्न किया और अनभीष्ट—'गुण' हाथ आया !

यदि 'पति प्रेमगर्विता' 'स्वाधीनपतिका' नायिका, अपनी सौभाग्य सूचनाके लिये ऐसा कहती है तो "पर्य्यायोक्ति" भी हो सकती है। 'रसचन्द्रिका' ने यहा 'विनोक्ति' अलङ्कार माना है।

---

* "उत्तर-वात्ता— निज सखीके वचन सखी सों । नायकके औगुन हम ढूंढती हैं मान कराइवे कौं, सो नायक में पइयत नहीं ।" (अमरचन्द्रिका)

† " स्वकीया नायिका है, नायिकाकौ वचन सखी प्रति है नायकमें अनगुण हू याको गुण भासते हैं " (कृष्णकवि)—

"नायिकाको वचन सखी सों, नायिका उत्तमा है, जो नायकमें अवगुण जानती ही नहीं '— (रसचन्द्रिका)

यथा—"अलङ्कार 'विनोक्ति'–तिसका लक्षण, 'कछु बिन सोभावान होइ, इहा औगुन बिन पतिको कह्यौ।" (?)।

किसी संस्कृत कविका भी इस भावका यह पद्य है.—

"एतत्किं प्रणयिन्यपि प्रणयिनी यन्मानिनी जायते
मन्ये मानविधौ भविष्यति सुख किञ्चिद्विशिष्ट रसात्।
वाञ्छा तस्य सुखस्य मेऽपि हृदये जागर्त्ति नित्य पर
स्वप्नेऽप्येष न मेऽपराध्यति पतिः कुप्यामि तस्मै कथम्॥"

—यह क्या बात है कि प्यार करने वालेस भी प्यारी मान ठान-कर बैठ जाती है, मैं समझती हूँ कि मानमें प्रीतिमे भी कुछ विशेष सुख है। इसीलिये प्रीति छोड़कर मान किया जाता है। उस मान-सुखकी इच्छा मेरे हृदयमें भी सदा बनी रहती है, कि किसी तरह मान करके उस अद्भुत सुख-का अनुभव करूँ, पर यह प्रिय स्वप्नमें भी मेरे साथ कोई अपराध नहीं करता, फिर इसमे कोप कैसे करूँ!

१०४

जौ लौं लखौं न कुल-कथा तौ लौं ठिक ठहराय।
देखे आवत देखिबौ क्यों हू रह्यौ न जाय॥

(सखीसे नायिकाकी उक्ति)—

अर्थ—(जौ लौं लखौं न)—जबतक उसे देखती नहीं हू, (तौ लौं कुल-कथा, ठिक ठहराय)—तबही तक कुल-धर्मकी बात ठीक—निश्चल रहती है, (देखे देखिबौ आवत)—देखनेपर, देखनाही बन आता है, वही सुहाता है। (क्यों हू न रह्यौ जाय)—फिर किसी तरह बिना देखे नहीं रहा जाता।

सखी सीख देती है कि इस प्रकार परपुरुषके प्रेमपाशमें फँसना कुल-धर्मके विरुद्ध है। नायिका कहती है कि ठीक है, पर यह कुल कथाका भाव तभीतक चित्तमें ठहरता है, जबतक उसे देखती नहीं, देखनेपर फिर किसी प्रकार नहीं रहा जाता, देखते ही बनता है।

अलङ्कार—१—"सम्भावना"—जो लौं तो लौं, शब्दसे (लल्लूलालजी)

"ज्यौं यौं होय त्यौं यौं होइगो" सो यहां कुलकथा तौ लौं ठहराइ, जो लौं देख्यो नहीं है।" (रसचन्द्रिका)

२—"व्याजस्तुति"—(परमानन्द कविके मतसे) नायकके सौन्दर्यातिशयके वर्णनसे, तदन्यपुरुषोंमें ऐसा सौन्दर्यातिशय नहीं। इस प्रकार, (अन्य पुरुषोंके सौन्दर्यकी) निन्दाकी प्रतीति होती है।

—जहां स्तुतिसे निन्दाकी या निन्दासे स्तुतिकी प्रतीति हो, वहां "व्याजस्तुति" अलङ्कार होता है।

३—"व्याघात"—(हरिकविके मतसे)—"सुखी कारक सों प्रीति होइ जनि दे—सान विरोध, तामों कार्य साधौ, व्याघात—अलङ्कार।"

"व्याघात जु कछु और तें कीज कारज और।
[illegible] में [illegible], काज व्याइये ठौर।"



१०५

कपट सतर भौंहैं करी मुख सतरौंहैं बैन।
सहज हँसौंहैं जान करि सौंहैं करति न नैन॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ —(कपट, सतर भौंहैं करी)—कपट—(बनावट)से भौंहैं टेढ़ी की, (मुख सतरौंहैं* बैन)—मुंहसे सतरौंहैं—क्रोध-युक्त, वचन कहे, पर (सहज हँसौंहैं जान करि)—स्वभावही से हँसौंहैं—हँसीले, जानकर (नैन, सौंहैं न करति)—नेत्रोंको सौंहैं—नायकके सामने, नहीं करती।

सखियोंने सिखा पढ़ाकर नायिकाको मान करनेके लिये तय्यार किया, सो उसने बनावटसे भौंहें भी टेढ़ी कर दिखायीं, मुंहसे—(जीसे नहीं!)—टेढ़ी मेढ़ी बातें भी कह सुनायी, पर यह जानकर कि यह देखतेही विना हँसे न रहेंगी—हँसना इनके स्वभावमें दाख़िल है—नायकके सामने आंखें नहीं की! आंखो-की इस निर्बलताको सखी समझ गयी, इसी बातको वह दूसरी सखीसे कहती है।

'सभोग संचारी मान'—“ जो मान, मनाने तक न ठहरे पहलेही छूट जाय, (हरिकवि) ‘ नायिकाके हर्ष, अवहित्था, संचारी, पूर्ण ईर्ष्याभास। बिब्बोक हाव, मानामास-।” (अनवरचन्द्रिका)

अलङ्कार—“ काव्यलिङ्ग ”—आंखोंको सामने न करना, सहज हँसौंहैं होनेसे समर्थन किया। २—“ छेकानुप्रास ”—भौंहैं-रौंहैं। ३-“यमक”-सौंहैं सौंहैं।

* "अनखौं हैं"—पाठान्तर।

१०६

नहिँ नचाय चितवति दृगनि नहिँ बोलति मुसकाय।
ज्यों ज्यों रुख रूखो करति त्यों त्यों चित चिकनाय॥

(नायकका वचन सखीसे)—

अर्थ —(दृगनि नचाय, नहि चितवति)—आंखें नचाकर नहीं देखती, (नहि मुसकाय बोलति)—और न मुसकराकर बोलती है। अथवा, * 'नही नहीं' बोलती है—निषेध करती है—(ज्यौं ज्यौं रुख रूखो करति)—ज्यौं ज्यौं रुख—(चेहरे) को रूखा बनाती है, (त्यौं त्यौं चित चिकनाय)—त्यौं त्यौं चित्त चिकनाता है। 'चित चिकनाना' स्नेहसे रीझना, या ललचाना।

अर्थात् कपट कोप प्रकट करनेके लिये यद्यपि वह कटाक्ष-विक्षेप पूर्वक देखती नहीं, और न मुसकराकर बोलतीही है, पर जैसे जैसे वह गम्भीरभाव धारण करके चेहरा रूखा बनाती है, वैसे वैसे मेरा मन और चिकनाता जाता है, उसके इस रूखे भावसे मन, और भी स्नेहमें सना और प्रेममें पगा जाता है।

हरिकविने इसे नायिकाके प्रति नायककी उक्तिमें लगाया है कि "एकान्तमें नायिका समोगको चाहती है—" तासों नायक वचन।" तैसे तैसे तेरो चित चिकनाय है—यह अर्थ।"(!)।

अलङ्कार—१- " विभावना " चौथी। रूखे रुख-विरुद्ध कारणसे, चित चिकनाहट—कार्य्य। 'नहि नहि से'— तीसरा "आवृत्ति दीपक"।



* पाठान्तर नहिँ बोलत "अनखाय" नाराज—होकर नहीं नहीं बोलती है।

१०७

तौही कौ छुटि मान गौ देखत ही ब्रजराज।
रह्यो घरिक लौं मानसी मान किये का लाज॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थः—(ब्रजराज देखत ही)—ब्रजराज-श्रीकृष्णका देखते ही (तौ ही को मान छुटिगौ)—तबहीका मान छुट गया, अर्थात् जब श्रीकृष्णको देखा मान तो उसी समय छूट गया। (घरिक लौं)—घडी एक तक (मान कियेकी लाज मानसी रही)—मान करनेकी लज्जा, मानसी–मानकी तरह– रही। अर्थात् मैंने यह व्यर्थही मान किया, इस प्रकारकी चित्तमें लज्जा घडी एक तक मान जैसी प्रतीत होती रही।

सखी सखीसे कहती है कि इसका मान तो कृष्णको देखनेही कभीका छुट चुका था, कृष्णके आनेपर जो कुछ देर तक मानसा मालूम होता रहा, वह मान नहीं था, किन्तु मान करनेकी लज्जा थी!

'मानाभास'। नायिकाकी प्रीति और कृष्णका सौन्दर्य्यातिशय व्यङ्ग्य।

'अमरचन्द्रिका'में "मानसी" पर 'प्रश्न, वार्ता' है कि "यहा 'मानसी' रही न चाहिए, 'मानिनीसी' या 'मानवनीसी' चाहिए"–उत्तर यह दिया है कि 'घरीक' (घडी एक) मानकी 'सी' कहिए शोभा (श्री) रही!" तथाहि—

"मैं जान्यौं अनुमान तें तौही छुटिगौ मान।
सोभा रही घरीक लौं मान किये की कान!"

—कान, अर्थात् हे कृष्ण! कृष्णसे सखीका वाक्य।

हरिकविने 'नायिका सों सखी वचन' कहकर अर्थ किया है कि 'तोही को,—'तो'—तेरे, 'ही'—हृदय का मान छुटिगो 'मानसी' मनस जो उपजे सो 'मानसी' मान करिबे की लाज मानसी रही—अर्थात् मनमें रही ''

अलङ्कार—१–'अनुमान' (अमरचन्द्रिका)

२–"उत्प्रेक्षा"–(अनवरचन्द्रिका)

३–दूसरी "विभावना"– (श्रीप्रताप और परमानन्द कविके मतसे)। —अनुनयादिके विना, दर्शनमात्र- अपूर्ण कारण-से मान छुटना- कार्य हो गया।

"हेतूनामसमग्रेपि कार्योत्पत्तिश्च सा मता।"—(सा—द्वितीया विभावना—)

"हेतु अपूरन तें जबै कारज पूरन होय।"

४–द्वितीय "पूर्वरूप"– (रसचन्द्रिकाकारके मतमें)। —

"पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि"

—जहाँ वस्तुका विनाश होनेपर भी दशा पूर्ववत् बनी रहे, वहाँ द्वितीय "पूर्वरूप" होता है। मान मिट गया, पर मान समान लज्जा बनी रही।

५–"चपलातिशयोक्ति" (हरिकविके मतसे)–कृष्णका दर्शन–कारण, मान छुटना—कार्य, दोनों एक साथही हो गये।

"चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिज।"–(हेतो प्रसक्तिर्ज्ञान तज्जन्ये कार्ये सति)।"

"चपलात्युक्ति जु हेतु के होत नाम ही काम।"

"चमत्कार" (?)—स्पष्ट ही है, मान किये की लाजसे मान रक्खा ?"

(श्रीलल्लूलालजी)

स्वकीया प्रेमगर्विता-वर्णन

१०८

कियौ जु चिबुक उठाय करि कंपत कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ो फिरति टेढ़े तिलक लिलार॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (चिबुक उठाय करि*)— ठोड़ी उठाकर (कंपत कर भरतार)— कांपते हुए हाथसे पतिने (जु कियो*)—जो तिलक किया, (लिलार टेढे तिलक)-माथेके उस टेढे तिलकसे (टेढीयै टेढ़ी फिरति)— टेढी ही टेढ़ी फिरती है !

नायकने अपने हाथसे नायिकाके माथेपर तिलक बनाया है, जो सात्त्विक कपसे हाथ कापनेके कारण टेढ़ा बन गया है। प्रेम-गर्विता नायिका उसी टेढे तिलकको लगाए टेढी टेढ़ी— प्रेम और रूपके गर्वसे गुमान भरी— इतराती फिर रही है !

अलंकार—१—पाचवी "विभावना" तिलकक्रियाकी अनभिज्ञताका सूचक टेढ़ा तिलक जो लज्जाका कारण है, उससे गर्व रूप विपरीत कार्य हुआ।

२— "परिकर" — तिलकका विशेषण 'टेढ़ा' साभिप्राय है।

३— "छेकानुप्रास— " और —

— *—

* पाठान्तर—"कै"। "दियौ"

१०६

तुम सौतिनि* देखत दई अपने हियतें लाल।
फिरति सबनि में डहडही उहै मरगजी माल॥

(नायकसे सखीका वचन)—

अर्थ — (लाल, सौतिनि देखत)- हे लाल! सपत्नियों-के देखते (अपने हियतें तुम दई)-जो अपने हृदयसे उतारकर तुमने दी है, (उहै मरगजी माल)- उसी मैली—मुरझाई—मालासे(सब-निमें डहडही फिरति)-सबमें हरी भरी —प्रसन्न हुई— फिर रही है।

प्रियने सब सपत्नियोंके सामने अपनी छातीसे उतारकर नायिकाको माला दी है, वह प्रेमके 'सार्टिफिकट' —स्वरूप उसी मैली मालाको गलेमें डाले हर्षसे फूली फिरती है।

अलङ्कार—वही पाँचवीं "विभावना"। मरगजी-मुरझाई-मालासे, डहडहाना-हराहोना, विरुद्ध कार्य।

भारविका जलकेलि प्रकरणका यह पद्य बिलकुल इसी भाव का है —

"प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि॥"

(किरातार्जुनीय ८ सर्ग)

— सपत्नीके समीप— उसके सामने ही— प्रियने (अपने हाथसे) अच्छी तरह गूँथकर, छातीपर डाली हुई मालाको, जलमें भीगकर खराब

* पाठान्तर—"पिय सौतिन"। "प्रिय सौतिनि"

स्वकीया प्रेमगर्विता-वर्णन

१०८

किये जु चिबुक उठाय करि कंपत कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ो फिरति टेढ़े तिलक लिलार॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (चिबुक उठाय करि*)— ठोडी उठाकर (कंपत कर भरतार)— कांपते हुए हाथसे पतिने (जु कियौ*)—जो तिलक किया, (लिलार टेढे तिलक)—माथेके उस टेढे तिलकसे (टेढीयै टेढी फिरति)— टेढ़ी ही टेढी फिरती है।

नायकने अपने हाथसे नायिकाके माथेपर तिलक बनाया है, जो सात्त्विक कंपसे हाथ कांपनेके कारण टेढ़ा बन गया है। प्रेम-गर्विता नायिका उसी टेढे तिलकको लगाए टेढी टेढ़ी— प्रेम और रूपके गर्वसे गुमान भरी— इतराती फिर रही है।

अलंकार—१—पांचवीं "विभावना" तिलकक्रियाकी अनभिज्ञताका सूचक टेढ़ा तिलक जो लज्जाका कारण है, उससे गर्व रूप विपरीत कार्य हुआ।

२— "परिकर" — तिलकका विशेषण 'टेढ़ा' साभिप्राय है।

३— "छेकानुप्रास— ", और —"वृत्यनुप्रास— "।

— * —

* पाठान्तर—"के"। "दियौ"

१०६

तुम सौतिनि* देखत दई अपने हियतें लाल।
फिरति सबनि में डहडही उहै मरगजी माल॥

(नायकसे सखीका वचन)—

अर्थ — (लाल, सौतिनि देखत)- हे लाल! सपत्नियों-के देखते (अपने हियतें तुम दई)-जो अपने हृदयसे उतारकर तुमने दी है, (वहै मरगजी माल)- उसी मैली—मुरझाई—मालासे(सबनिमें डहडही फिरति)-सबमें हरी भरी —प्रसन्न हुई— फिर रही है।

प्रियने सब सपत्नियोंके सामने अपनी छातीसे उतारकर नायिकाको माला दी है, वह प्रेमके 'सार्टिफिकट' —स्वरूप उसी मैली मालाको गलेमें डाले हर्षसे फूली फिरती है।

अलङ्कार—वही पाँचवीं "विभावना"। मरगजी-मुरझाई-मालासे, डहडहाना-हराहोना, विरुद्ध कार्य।

भारविका जलकेलि प्रकरणका यह पद्य बिलकुल इसी भाव का है —

'प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि॥"

(किरातार्जुनीय ८ सर्ग)—

— सपत्नीके समीप— उसके सामने ही— प्रियने (अपने हाथसे)- अच्छी तरह गूँथकर, छातीपर डाली हुई मालाको, जलमें भीगकर खराब

* पाठान्तर—"बिय सौतिन"। "प्रिय सौतिनि"

परकीया प्रेमगर्विता-वर्णन

१११

छला छबीले छैलको नवल नेह लहि नारि।
चूमति चाहति लाय उर पहरति धरति उतारि॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (छबीले छैलको छला)— छबीले—तरहदार, फबीले— नायकका छल्ला— अँगूठी— (नवल नेह लहि)— नवीन स्नेहमें— पूर्वानुरागमें— पाकर, (नारि)— नायिका, (चूमति)— चूमती है, (उर लाय चाहति)— छातीसे लगाकर प्यार करती है, (पहरति)— पहनती है (उतारि धरति)— और फिर उतारकर धर देती है।

पूर्वानुरागमें नायिकाको छबीले छैलका छल्ला मिल गया है, सो मारे प्यारके कभी उसे चूमती है, कभी छातीसे लगाकर प्यार करती है, कभी पहनती है, और फिर कोई देख न ले, या मैला न होजाय, इस डरसे उतारकर रख देती है।

पूर्वानुरागिणी नायिकाके स्वभावका सुन्दर चित्र है।

पूर्वानुराग, शृङ्गार हर्ष सञ्चारी, और त्रपानुभावसे परकीया नायिका।

अलङ्कार— "स्वभावोक्ति" और "अनुप्रास"की संसृष्टि"

(अनवरचन्द्रिका)

"जाति"— (स्वभावोक्ति)— "कारक दीपक"।

(हरिकवि)



स्वकीया रूपगुणगर्विता-वर्णन

११२

दुसह सौति सालै जु हिय गनति न नाह विवाह।
धरे रूप गुन कौ गरब फिरै अछेह उछाह॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (जु सौति हिय, दुसह सालै)- जो सौत, हृदय-के लिये दुःसह शल्य-काटा-है। अथवा जो सपत्नी दुःसह है, और हृदयमें खटकने वाली है, (गनति न)- उसे यह गिनती ही नहीं। (रूप गुन कौ गरब धरे)- रूप और गुणका गर्व धारण किए, (नाह विवाह)- पतिके विवाहमें, (अछेह उछाह फिरै)- अत्यन्त उत्साहसे फिरती है।

नायकका दूसरा विवाह होने लगा है। सपत्नीका दुःख स्त्रियोंके लिये असह्य होता है, यह एक ऐसा काटा है कि जो किसी भी स्त्रीके जीमें विना खटके नहीं रहता। परन्तु अपने लोकोत्तर रूप और गुणके गर्वमें भरी हुई नायिकाको इसकी जरा भी परवा नहीं कि उसके सिरपर सौत आनेवाली है। यह इस विषादके अवसरपर और भी अत्यन्त उत्साहमें फिर रही है। सपत्नीकी समीपतामें मेरे रूप गुण और भी अधिक चमकेंगे, यह उसे दृढ़ निश्चय है। इसीसे वह धृति धारण किए और उत्साहसे भरी फिरती है।

अलङ्कार — तीसरी "विभावना"— सपत्नी, उत्साहका प्रतिबन्धक कारण है, तो भी "अछेह उछाह"—कार्य हो रहा है।

अथवा, पाचवीं विभावना, विरुद्ध कारणसे कार्य्योत्पत्ति हुई। "वृत्त्यनुप्रास" स्पष्ट ही है।

श्रीप्रताप—"गनति न, या एक क्रियातें "तुल्ययोगिता"—भी कहते हैं।

११३

सुघर सौति बस पिय सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरब सलज सहास॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (पिय सुघर सौति बस सुनत)– प्रियको सुघड–चतुर– सपत्नीके वशमें सुनकर (दुलहिनि दुगुन हुलास)– दुलहन–नवोढ़ाको दुगुना उल्लास—हर्ष—हुआ, (सखी तन दीठि करि)– सखीकी ओर दृष्टि करके (सगरब, सलज, सहास, लखी)—गर्व, लज्जा और हँसीसे देखा।

नवोढा नायिकाने जब यह सुना कि उसका पति सुघड सौतके वशमें है, तो इससे "सौतिया डाह" नहीं, किन्तु उसे दुगुना हर्ष हुआ। दुगुना यों कि पति सुघड सौतके वशमें है तो स्वयं भी 'सुघड़' होगा, इसलिये उसे अपने वशमें करना सुगम है। सपत्नी तो केवल सुघड ही है, मैं सुघड और रूपवती दोनों हू, मेरे रूप और गुणके आगे सौतकी एक सुघड़ाई न चलेगी।

गर्व, लज्जा और हास्यका अभिप्राय यह है कि 'गर्व' तो अपने रूप गुणका। 'लज्जा' नवोढापनकी। लज्जाहीन गर्व-ढिठाई

का सूचक होता है। 'हास्य' उदारताका सूचक, कि यह सुनकर मुझे बहुत हर्ष हुआ, बहुत अच्छा है जो ऐसा है।

'दुगुन हुलास'के कारणकी व्याख्या टीकाकारोंने कई प्रकारसे की है।

यथा — "दुगुनो हुलास आनन्द, मो में रूप भी है चतुराई भी है-यातें।" (हरि कवि)

"एक तो हुलास ब्याह का था ही, दूसरा पतिके सुघड़ापेका हुआ। इत्यादि, (रसचन्द्रिका)

अमरचन्द्रिकाकारने प्रश्न किया है कि — "हुलास दुगुना नहीं, तिगुना कहना चाहिए, क्योंकि उत्तरार्ध में गर्व, लाज, हास, ये तीन भाव हैं।"

उत्तर यह दिया है कि— "गुण और रूपके गर्वको मुसकराहटसे प्रकट किया।"

—अर्थात् हास्य, हर्षहीका सूचक है। उल्लासके त्रित्वका द्योतक नहीं। इनके मतसे दुगुने हुलासका कारण नवोढाका रूप गुण सहित, नूतन वय है। अर्थात् मैं नयी हूँ वह पुरानी है। वह केवल सुघड़ ही है, मैं सुघड़ और सलोनी—सुरूपा—दोनों हूं।

लल्लूलालजी कहते हैं— "तात्पर्य्य यह कि एक तो अपना गुण रूप अधिक जानती थी, दूजे समझी जो सुघड़के बस हुआ तो सुघड़ मैं ही हूँ, मेरे ही अधीन होगा वह चार दिनकी आई क्या चतुरी होगी।"

लल्लूलालजीकी, इस पिछली पंक्तिने दोहेका भाव ही उलट दिया। इनके मतमें यह 'दुगुन हुलास' 'दुलहिनि'को नहीं हो रहा, न उसने गर्व और लज्जापूर्वक मुसकराकर सखीकी ओर देखा ही है, किन्तु जिस सुघड़ सौतके वशमें नायक है वही अपने सुघड़ापेपर इतरा रही है, वही अपना गुण रूप अधिक

जानती है। किसीसे यह सुनकर कि नायक सुघडके वस हुआ, उसे शायद कुछ सन्देह हो गया, फिर सोचकर समझी कि 'वह सुघड़' मैं ही तो हू! जरूर मेरे ही अधीन होगा। मेरे आगे-मुझ पुरानी खुर्राटके आगे— चार दिनकी आई वह दुलहिन क्या चतुरी होगी! अस्तु।

अलङ्कार— ४ थी, "विभावना"। "पर्याय"— "एक दीठि में अनेक को वास,यातें।"—"तुल्ययोगिता"- गर्व लाज हास सहित लखी,या एक किया तें।" (प्रतापचन्द्रिका)



११४

हँसि ओठनि बिच कर उचै किये निचौंहैं नैन।
खरे अरे पियके प्रिया लगी बिरी मुख दैन॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ—(ओठनि बिच हँसि)— होठोंमें हँसकर, (कर उचै)— हाथ ऊँचा किए, (नैन निचौंहैं किये)— आँखें नीचे झुकाए, (पियके खरे अरे)— प्रियके बहुत हठ करनेपर, (प्रिया, मुख बिरी दैन लगी)— प्रिया नायकके मुंहमें बीडी देने लगी।

संयोग श्रृङ्गार। नायिका मध्या। हर्ष, त्रपा, संचारी। विलास हाव। नायकको हर्ष सञ्चारी।

—नायकने अड लगायी है कि मैं तुम्हारी बनायी हुई पानकी बीड़ी तुम्हारेही हाथसे खाऊंगा, अपना हाथ नहीं लगाऊँगा। लगाकर लाओ भी तुम्हीं

और मुहतक भी तुम्हीं पहुचाओ ! सो वह मुसकराती हुई हाथ ऊँचा किए और लज्जासे आँखें झुकाए, सजनके मुहमें पानकी बीडी दे रही है । प्रियकी प्रेमभरी अड (हठ) को पूरा कर रही है ! इस अनोखी अडपर होठोंपर हँसी आ रही है। नायिका बाला या मध्या है, लज्जासे नेत्र नीचे हो रहे हैं, और हाथ बीडी लिए प्रियके मुखकी ओर बढ़ रहा है। बहुत सुन्दर "स्वभावोक्ति" है ! दशाविशेषमें बीडी देनेका बडा अच्छा वर्णन है।

लल्लूलालजी कहते हैं कि—

"यहा बीड़ी का अर्थ दात रँगने की बीड़ी का है, पान की का नहीं। और और जो पानका अर्थ लीजे तो नेह की हीनता है, क्योंकि पान तो रात ही है।"—

'रसचन्द्रिकाकार' भी ऐसा ही कहते हैं —

"बिरी, सो इत यह है कि जिस सों दात रँगें हैं, सो नायक के देने को अरी है। और जो बिरी पान हीकी कहिए तो या को (प्रिया को ?) अरना नहीं चाहिए, क्योंकि नेह की हीनता है—"

परन्तु यह ठीक नहीं । रसचन्द्रिकाकारके कहनेका अभिप्राय तो यह मालूम होता है कि "प्रिया प्रियके दात रँगनेको अडी है, प्रिय दात रँगाना नहीं चाहता, और वह जिद कर रही है कि नहीं जरूर रँगूगी !" पर ऐसा नहीं है। 'खरे अरे' का सम्बन्ध (अन्वय) 'पिय'के साथ है। अर्थात् प्रियकी अत्यन्त हठपर वह पानकी बीडी उसके मुहमें दे रही है। सहृदयोंकी दृष्टिमें इसमें स्नेहकी हीनता नहीं, प्रत्युत प्रेमकी पराकाष्ठा है। यदि ऐसा समझें कि दांत रँगनेकी बीड़ी लिए वह अड रही है, तो फिर उसकी हँसीका होठोंतक ही रहना और आखें नीचेको झुकाना कैसा ?

"माँगने निकले और पीठ पीछे भाड़ा"। उसे तो खूब झकझोरी करके, अट्टहासपूर्वक, आखें दातोंपर जमाकर— (कहीं इधर उधर रँग न लग जाय इसलिये)– अड़ना चाहिये था!

लल्लूलालजी ऊपर (अर्थमें) तो लिखते हैं "बहुत हठ करनेसे नायकके, नायका लगी बीडी मुखमें देने"— और फिर 'रसचन्द्रिकाकार'के स्वरमें स्वर मिलाकर "नेहकी न्यूनता" भी बतलाते हैं,! इनका अभिप्राय शायद यह है कि "प्रिय दात रँगानेके लिये अपना मुंह फैलाए बहुत हठ कर रहा है, परन्तु खुशीसे प्रिया ऐसा करना नहीं चाहती, उसे प्रियकी इस अनुचित हठपर हँसी और लज्जा आ रही है।" न जाने इन्होंने इसमें स्नेहकी क्या अधिकता सोची है, जो "पानकी बीडी"को जबरदस्ती "दात रँगनेकी बीड़ी" बना रहे हैं। "क्योंकि पान तो खाते ही हैं"— यह भी एक ही हुई। होनेको तो सब कुछ होता है। पर, अवस्थाविशेषमें साधारण सी बात भी चमत्कारजनक हो जाती है। हठ करनेवाले और पान देनेवालीकी दशापर दृष्टि डालिए तो यही साधारण बात एक असाधारण और अत्यधिक मनोरञ्जक घटना प्रतीत होगी! कृष्णकविने भी बीड़ीका अर्थ पानकी बीडी ही किया है.—

"कान्ह कही अतिहि हठ कै तब राधिकाके जियमें यह आई,
ग्रीव नवाय दुराय कपोल किये नत नैन कछू मुसकाई।
बीरी बनाय, रुई करकज खवैबे को मजु भुजा उकमाई,
यों हित की मरसाई विलोकि भई मनमोहन के मन भाई।"

परमानन्द कविनेभी 'बिरी'का अनुवाद (नागवल्लीदलम्)— "पानकी बीड़ी"– ही किया है। यथा —

'अनुनीता नतलोचना स्मितवदना रमणेन ।
तदा नागवल्लीदल वाला ददौ करेण ॥"

'पानकी बीडी' देनेका वर्णन विहारीने दूसरी जगह और भी किया है। (वहां श्री लल्लूलालजीने भी "विरी"का अर्थ "पानकी बीडी" ही किया है)। यथा —

"नाहिं नहीं नाहीं करै † नारि निहोरें लेय ।
छुवत ओठ विच।आंगुरिन विरी वदन प्यौ देय ॥"२४७

पहले प्रसगमें (११४वें, दोहेमें) नायककी अड—हठ—पर नायिका उसके मुहमें बीडी दे रही है। और यहां (२४७वें, दोहेमें) नायक आग्रहपूर्वक नायिकाको बीडी खिला रहा है।

अलङ्कार— "जाति"— (स्वभावोक्ति) या "हेत्वलङ्कार", हरिकवि)। "कारक दीपक", "छेकानुप्रास"—(श्रीप्रताप)



अन्यसम्भोगदु:खिता स्वकीया-वर्णन

११५

**बिथुर्‌यौ जावक सौतिपग निरखि हँसी गहि गांस ।
सलज हँसौहीं लखि लियौ आधी हँसी उसास ॥**

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (सौति पग, विथुरयौ जावक निरखि)—। सपत्नीके पावमें विथुरा हुआ— अस्तव्यस्त लगा हुआ, फैला

† पाठान्तर— "नाक मोरि नाहीं करै"— "छुवत ओठ पिय (विय) आंगुरिन विरी बदन तिय देय"।

हुआ— महावर देखकर, (गास गहि, हँसी)— ईर्ष्या या अवज्ञाके भावको लेकर हँसी। (सलज हँसौहीं लखि)— पर सपत्नीको लज्जासहित हँसते देखकर, (आधी हसी उसास लियौ)— आधी हँसीमें दुःखसे दीर्घोच्छ्वास लिया।

जावकको बिथुरा हुआ देखकर, 'यह समझकर हँसी थी कि यह कितनी फूहड़ है जो इसे जावक लगाना भी नहीं आता। पर जब उसे लज्जित और हँसते हुए देखा, तब उसको इस चेष्टासे यह जानकर दुःखका सास लिया कि यह (महावर) इसका लगाया हुआ नही है, किन्तु प्रियने लगाया है, इसी कारण बिखरा हुआ है, लगाते समय प्रियको सात्त्विक प्रस्वेद हो आया है, इसीसे यह फैल गया है। सपत्नीने अपने लज्जा और हँसीके भावसे यह जतलाया दिया कि यह मेरा लगाया नहीं है जो तू मुझे फूहड़ समझकर हँस रही है, किन्तु प्रियने स्वयं अपने हाथसे लगाया है, जो सात्त्विक पसीनेसे बह गया है। बेचारीकी हँसी पूरी भी न होने पायी थी कि आधी हँसीमें ही दुःखका सास लेना पड़ गया। अफसोस!

अलङ्कार—तीसरा "विषम" जो बात इष्ट—हर्ष—का कारण समझी थी वही अनिष्ट—दुखदायी हो गयी। अथवा—"हेत्वलङ्कार"

"हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते।"

— हेतु, बिथुरा जावक, हेतुमान् (कार्य्य) हँसी का एक साथ वर्णन है। या "सहोक्ति" भी होसकती है, आधी हँसी, उसासके साथ हुई।

इसी भावकी एक आर्या भी है —

"अतुलितसकलविभूषा प्रातर्बाला विलोक्य मुदित प्राक्।
प्रियशिरसि वीक्ष्य यावकमथ नि श्वसित सपत्नीभि ॥१८॥"

—प्रातःकाल यह देखकर कि बाला नायिकाकी सब सजावट ज्योंकी त्यों बनी है, पहले तो सपत्नियां प्रसन्न हुईं, परन्तु पीछे यह देखकर कि प्रियके माथेपर यावक— महावर— लग रही है उन्होंने लम्बा सांस लिया !

अर्थात् सपत्नियोंने यह समझा था कि यह रात पति समागमसे वञ्चित रही है— पतिने इसकी बात नहीं पूछी, क्योंकि वेषभूषाकी सब सजावट ज्योंकी त्यों बनी है, पतिसमागम होता तो यह सजावट जरूर मली दली जाती। परन्तु पतिके माथेपर महावर लगी देखकर वे समझीं कि ओह, यह तो उलटी बात निकली। प्रियने पैरोंपर सिर रखकर इसे मनाया, तो भी नहीं मनी। यह 'दुर्भगा' नहीं, परम 'सुभगा' है, इसके पैरोंकी महावर, मनाते समय प्रियके माथेपर लग गयी है, पर यह मान छोड़कर तोभी नहीं मिली, इसीसे "अतुलितसकल-विभूषा" है !

आर्याके—"यावक", "निःश्वसित" "विलोक्य" 'मुदित"। और दोहेके— 'जावक, निरखि हँसी, उसास लियो"— एक हैं। परन्तु बिहारीके दोहेमें सपत्नीको हँसने और सांस लेनेके लिये दो जगह देखना नहीं पड़ा —उसे पतिका महावरमें सना हाथ देखना नहीं पड़ा—अभी हँसी पूरी भी न होने पायी थी, कि बेचारीको उलटा सांस भरना पड़ गया। इशारे ही इशारेमें हँसी दुःखमें बदल गयी, न किसीको कुछ कहना सुनना पड़ा, न कहीं इधर उधर देखना भालना !

बड़ा चमत्कार है! आर्याके "प्रियशिरसि वीक्ष्य यावक" वाक्यने विस्पष्ट करके ध्वनिको कुछ दबा दिया। इस कारण 'आर्या' गुणीभूत व्यङ्ग्य होनेसे मध्यम, और दोहा ध्वनिप्रधान व्यङ्ग्यपूर्ण होनेसे उत्तम काव्य है।



११६

छला परोसिनि हाथतें छल करि लियौ पिछानि।
पिय हि दिखायौ लखि बिलखि रिससूचक मुसकानि॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (छला पिछानि)—छला पहचानकर (परोसिनि हाथतें, छलकरि लियौ)—पड़ोसनके हाथसे एक बहानेसे लेलिया। (लखि)—अपने आप देखकर, फिर (बिलखि, रिससूचक मुसकानि)—बिलखकर क्रोधसूचक मुसकराहटसे (पिय हि दिखायौ) —प्रियको दिखलाया।

पड़ौसनके हाथमें नायिकाके प्रियकी (प्रेमकी निशानी) अगूठी पड़ी थी, सो नायिकाने पहचान ली और यह बात भी जानली कि इसके पास यह क्यों आयी है। किसी बहानेसे उसके हाथसे अँगूठी लेली, एक बार फिर ध्यानसे देखा कि वही है, कहीं धोखा तो नहीं हुआ। जब निश्चय होगया तो क्रोधमिली हुई मुसकराहटसे प्रियको दिखलायी कि देखिए पहचानिए, यह आपहीकी तो अंगूठी है न? क्यों कैसी चोरी पकड़ी है! न कहोगे।

अलङ्कार—, "सूक्ष्म"– क्रोधसूचक मुसकराहटसे यह सूचित किया कि नखराली चोरी पकडी गयी। छल्लेके वहाँ पहुचनेका कारण मालूम होगया।

"पर्यायोक्ति"– छलसे छल्ला लेकर अपना इष्ट सिद्ध किया। "कारक दीपक"—एक छल्लेमें (पहचानना, छलसे लेना, देखना, दिखाना, इत्यादि) अनेक भाव हैं।

—"कारक दीपक एक में क्रमतें भाव अनेक।"



११७

बिलखी लखै खरी खरी भरी अनख बैराग।
मृगनैनी सैन न भजै लखि बैनी के दाग॥

(-सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ —(बिलखी खरी लखै)—आसू टपकाती हुई, खडी देख रही है, (खरी अनख बैराग* भरी)—अत्यन्त क्रोध और बैराग–उदासीनता या नाराजगीसे भरी है (बेनीके दाग लखि)– अन्य नायिकाकी वेणी (चोटी) के दाग देखकर (मृगनैनी सैन न भजै)—मृगनयनी नायिका शय्यापर नहीं आती।

* 'बिलखी-आसू भारती। बैरागको- अर्थ इहा बेराजीपनो— अरुचि जानिए।' (हरि)। 'बैराग' को अर्थ उदासी को है" (रसचन्द्रिका)

दूसरी स्त्रीकी चोटीके दाग चारपाईकी चादरपर लगे देख कर मानिनी नायिका, क्रोध और उदासीनतासे भरी खडी बिलख रही है, चारपाईपर पैर नही रखती।

अलङ्कार-" काव्यलिङ्ग"- चारपाईपर न आनेका समर्थन वेनीके दागसे किया।

" काव्यलिङ्ग " और "छेकानुप्रास"की संसृष्टि"
(अनवरचन्द्रिका)

वृत्त्यनुप्रास—(श्रीप्रताप)—
"मृगनैनी" मे उपमान-वाचक धर्म-लुप्ता, "उपमा" (हरिकवि)
—"मृगनैनी"— मृगके नयनसे नयन हैं जिसके। मृग, नेत्रोंका उपमान नहीं है, किन्तु 'मृगके नयन' उपमान हैं। जो यहा लुप्त हैं। मृगपदसे लक्षणाद्वारा मृगके नैनोंका बोध होता है। वाचक- 'से' "लौं"— इत्यादि पद भी लुप्त है। "धर्म"— बडे, कजरारे इत्यादि भी नही हैं। केवल "नैन" उपमेय हैं। इसलिये बडी बढिया "उपमान-वाचक धर्म-लुप्तोपमा" है।

कुछ इसी प्रकारके प्रसगमे "वेनीके दाग' का उल्लेख अमरुकने भी किया है। यथा—

" वक्षस्ते मलतैलपकशबलैर्वेणीपदैरङ्कितम् " ।

यहा ऋतुस्नानोन्मुखी नायिकाको आलिङ्गन करनेसे नायक की छातीपर तेल पक लिप्त वेणीकी छाप लगी है। विहारीने "सैन"—शयन-चारपाई (चारपाईकी चादर)- पर वेनीके दाग दिखलाये हैं।



११८

ढीठ परौसिनि ईठ ह्वै कहै जु गहै सयान।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ मुसकाहटमें मान॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ —(ढीठ परौसिनि)— ढीठ पड़ौसनने (ईठ ह्वै)— मित्र बनकर (जु सयान गहै कहै)— जो सदेसे चतुराईसे कहे, (सबै सँदेसे कहि)— उसने वह सब सन्देसे कहकर —(मुसकाहटमें मान कह्यौ)— मुसकाहटमें मान कह दिया- प्रकट कर दिया।

इस पड़ौसनकी प्रच्छन्न प्रीति नायिकाके पतिसे है। यह 'सहेट' का संकेत करने या मिलनेकी घातमें नायकके घर आयी है। नायक उस समय वहाँ उपस्थित न था, मैदान खाल पाकर—मौका हाथसे जाता देखकर- पड़ौसनने नायिकासे मित्रता गाठी—उसे भोली भाली और अपने छल छन्दसे बेखबर समझकर उसके द्वारा—उसेही दूती बनाकर—अपने आनेकी सूचना और गूढ सदेसा नायक तक पहुचानेके लिये, कुछ इस ढग और चतुराई से कहा कि मानो इसमें नायिकाहीका कुछ हित छिपा हुआ है—उसीकी भलाईके लिये नायकसे कुछ कहने सुनने यह आयी है। इस प्रकार नायिका-को चकमा देकर 'ढीठ पड़ौसन' चलती बनी। नायिका इस भेदको भाप गयी— पड़ौसनके आने और सदेसा कह जानेका रहस्य समझगयो। जब नायक आया तो नायिकाने पड़ौसन-का सिखाया पढ़ाया संदेसा कह सुनाया। सदेसा सुनाकर पीछेसे कुछ इस अदासे मुसकरा दी जिसमें ईर्ष्या-मानकी झलक थी—मुसकराहटसे जतला दिया कि इस संदेसेका मतलब

मैं समझ गयी ! जिसलिये तुम्हारी टोह में वह यहां आयी थी मैं जान गयी !

इस दोहेका भाव कुछ अस्पष्ट है । प्राय. सब टीकाकारोंने इसकी भिन्न भिन्न व्याख्याएँ की हैं। अमरचन्द्रिकाकारने—

"यासी अर्थविधि कठिन है ताको निर्वाह भूमिका"—यह लिखकर इसपर एक "वार्ता" (भूमिका) लिखा है। जिसका साराश यह है कि— "जिस पडोसनसे नायकको हँसते देख, नायिकाने मान किया है, वही ढोठ पडोसन नायकके कहनेसे उसे समझाने आयी है, सो वह नायिकाकी मित्र बनी— मानो नायिकाकी बडो हितैषिणी है, हितबुद्धिसे उसका भ्रम दूर करने आयी है। बडी चतुराईसे नायककी निरपराधता सिद्ध कर रही है, सब सँदेसे जो नायकने भेजे थे, कहकर अन्तमें कहा कि मुसकाहटमें मान ? अरी कहीं मुसकराहटमें भी मान किया करते हैं ? नायक यदि हमें देखकर मुसकरा दिया तो इतनेसे क्या हुआ ? यह भी कोई मान करने या नाराज होनेकी बात है ? यदि नायक परस्रीसे छिपकर बातें करता पकड लिया जाय, या रतिचिह्न देख लिये जायँ, तब तो मान करना उचित भी है, केवल मुसकराहट देखकर मान करना सर्वथा अनुचित है। "मुसका[illegible] मान" और 'मुसकाहट तें मान' का अर्थ एक ही तरह बोला जाता है — जैसे 'हँसी में बुरा न [illegible] या हसीसे बुरा न मानना चाहिए।"—

हरिकविने भी इसके कई अर्थ किये हैं एक यह हैं —

"नायिका दूतीसे कहती है कि ढोठ' पडोसनका 'ईठ' मित्र बनकर,

जो सँदेसे चतुराई लिए कहे हैं, सो सब सन्देसे तू कह। दूती कहती है कि यह सँदेसा कहा है कि "मुसकाहटमें मान" मैं तो पड़ौसन से सिर्फ मुसकराया था इतनेहीसे मान कर लिया!"

अथवा— "सखीसे सखी कहती है— ढीठ जो नायक है, उसने पड़ौसनका मित्र बनकर, कहा कि हे पड़ौसन तू हमारे सब सदेंसे नायिकासे कह, यह कहकर (सन्देसा) कहा कि— " तू हमें सयान गह्यौ"— याको अर्थ— 'तू हमें काहू पास आवत पायो, जो मान करे है ? फरि कह्यौ, मुसकाहटिमें हाँसीमें त मान कियो!"—

'ढीठ' की जगह 'डीठि' या 'दीठि' पाठान्तर भी है। वहा यह अर्थ कि नायकको 'दीठि' देखकर, "परौसिनि ईठ ह्वै" पड़ौसिन की मित्र बनी कहती है कि 'सयान'— (स्याना)—चतुर नायक "गहै"—समझ जाय। अर्थात् नायकको सुनानेके लिये पड़ौसन से कह रही है, सो सब सदेंसे कहकर, निष्कारण और असमय की मुसकराहट से मान जता दिया!

१— "नायक और नायिका पास बैठे है, सो सखी नायिका सा कहे है, कि ढीठ पगेसिन तेरी ईठ (मित्र) हो क जो सँदेसे नायक कह्यो थी तुम सों, सो तू नायक सो कहु। सो नायिकाने कह्यो मुसकाहटमें मान। हेत (भाव) यह है कि और कछु न कह्यो। मुसक्यान में मान जतायो, अर्थात खिसियानी हँसी, हँसी।"

अलङ्कार— 'पिहित'— छिपी पर बात को जानि के भाव पर दिखावे, सो यहा नायक के दोष छिपे जानि के मुसकाहट क भाव सो मान जतायो।"— (रसचन्द्रिका)

१— (दीठि) देख के नायक को (परौसिन ईठ है) परौसिन की इष्ट हो के, मित्र हो के, समझदारी मे कहती है (वात परौसिन मे कहनी है, व्यङ्गय नायक पर है) सन सदेस कहके मुसकाई, इस निष्कारण मुसकाहट से मान विदित हुआ"— (व्यासजी)॥

अलङ्कार— "काकूक्ति" और "काव्यलिङ्ग" । 'काकूक्ति'— मुसकराहट में मान चाहिये? अर्थात् नहीं चाहिये । "काव्य-लिङ्ग"— सन्देसे कहनेसे— 'पड़ौसन की ढिठाई दृढ हुई ।

"सूक्ष्मालङ्कार"— मुस्कराहटकी चेष्टासे नायकको मान जता दिया । "छेकानुप्रास"— दीठि ईठमें ।



परकीया अन्यसंभोगदु खिता-वर्णन

११६

गह्यौ अबोलौ बोलि प्यौ आपै पठै बसीठि ।
दीठि चुराई दुहुन की लखि सकुचौंहीं दीठि ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

(आपै बसीठि पठै)-आपही दूती भेजकर,(पिय बोलि)— प्रियको बुलाकर, (अबोलौ गह्यौ) मौन धारण कर लिया (दुहु-नुकी दीठि सकुचौंहीं लखि)—दोनोंकी दृष्टि लज्जासे संकुचित देखकर (दीठि।चुराई)— आंखें चुराई ।

✽ हरिकविने एक 'दीठि' का अर्थ देखकर किया है । यथा "दीठि चुराई दुहुनकी" सामने नजर नहीं करे हैं । लखिके, देखिकें भी सकुचौंहीं- लज्जित, 'दीठि'को अर्थ देखि कैं"—

अथवा— नायिकाने आपही दूती भेजकर नायकको बुलाया, पर दोनोंकी (नायक और दूतीकी) दृष्टिको चुराई और सकुचौंहीं देखकर (अर्थात् दोनों सामने नजर नहीं मिलाते और लज्जित हैं, यह देखकर) उनके प्रच्छन्न संभोगका निश्चय किया और इस कारण रुष्ट होकर मौन साध लिया।

नायिकाने किसी सुन्दरी दूतीको नायकके पास (बुलानेके लिये) भेजा। वह दुष्टा दूती स्वयं नायिका बनकर वहां नायकसे काला मुंह करा आयी। नायक और दूती जब नायिकाके पास आये तो उनकी शरमाई हुई आंखोंसे नायिका ताड़ गयी कि कुछ दालमें काला जरूर है। इसलिये क्रोधसे उनकी ओरसे आंख फेरकर बैठ गयी। वे चोरी करके आये थे, इसने भी उनसे आंखें चुरा लीं।

इस दोहेमें कई टीकाकारोंके मतसे "विषमालङ्कार" है। परन्तु अमरचंद्रिकाकारने इसपर अपने कई दोहे लिखकर इस बातका खण्डन किया है और यह सिद्ध करना चाहा है कि इस दोहेमें जिन्होंने "विषमालङ्कार" माना है, वह ठीक नहीं। हेतु यह दिया है कि "जहां इष्टके लिये उद्यम किया जाय और फल अनिष्ट हो वहां "विषम" होता है।—" यहां प्रियको बुलाना इष्ट था, सो वह आगया। यदि दूती प्रियको इसके पास न लाकर किसी और ठौर ले जाती तो अनिष्ट होता"—इस प्रकार "विषम" का खण्डन करके यहां एक नया "अमित" (?) अलंकार माना है, और उसका लक्ष्य लक्षण यह दिया है—

'अमित' साधनै भोग वै साधक सिद्धि प्रवीन।
तिय साधक पिय सुरति-सिधि सखि साधन तिय लीन॥

'अमरचन्द्रिकाकार' की इस कल्पनाका खण्डन रसचंद्रिका-

कारने इस प्रकार किया है—

"नायिकाने पहले तो नायक सों अनबोलो (मौन) लियो हतो, फिर बुलाया पियको आपही बसीठ पठै कै (दूती भेजकर) सो सखी जो बसीठ (दूतत्व) को गई थी सो नायक सौ सुरति करि आयी सो दोनोंकी दीठि सकुचौहीं देखि कै, आपु ही डीठ चुराई"—अलङ्कार "विषम" भेद तीसरो, तिसका लक्षण—" इष्ट उद्यम म अनिष्ट प्राप्ति होय, सो यहा सुरको बुलायो तौ (यौ ?) सो दोनोंको सकुचौहौ देखिकै दुख भयो । और जो यो कहिये कि बसीठ और ठौर ले जाती, सो यह'अजुक्ति है, काहू बरनो नहीं"—

(रसचंद्रिका)

अर्थात् अमरचन्द्रिकाकारका यह कथन "कि यदि दूती नायकको किसी और जगह ले जाती तो "विषम" होता।" ठीक नहीं। क्योंकि किसी कविने ऐसा वर्णन नहीं किया। दूती अमानतमें खयानत तो करअ.ती है— इसका भींकना तो कवियोंने बहुत भींका है पर ऐसा कभी नही हुआ—किसीने वर्णन नहीं किया कि वह नायक को जहांके लिये लेने गयी हो वहा न लाकर किसी दूसरी जगह ले गयी हो। अस्तु।

अलङ्कार-१—"विषम"। २—"अनुमान" दृष्टि चुराने और लजाने से सम्भोगका निश्चय किया—

— " जहँ अदृष्को हेतु सों जान लेत अनुमान।"

३—पदार्थावृत्ति दीपक— दीठ दीठ—एक पद, एक अर्थ।



ज्येष्ठा-कनिष्ठा-वर्णन

१२०

हठि हित करि प्रीतम लियौ कियो जु सौति सिंगार,
अपने कर मोतिन गुह्यौ भयो हराहर हार ॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (प्रीतम हठि हित कर लियौ)—प्रियतमने हठ करके और प्रेमसे लिया था (जु सौति सिंगार कियौ)-जिसे सपत्नीका सिंगार कर दिया—उसे पहना दिया, (अपने कर मोतिन गुह्यौ हरा)-अपने हाथमें गुथा हुआ मोतियोंका वह हार (हरहार*भयौ)-शिवका हार— सर्प- होगया।

नायिकाने अपने हाथसे एक मोतियोंका हार बनाया था, जिसे पतिने प्रेम भरे हठसे उससे लेलिया और अपनी दूसरी प्रियाको जा पहनाया, सो नायिकाको सपत्नीके गले में पड़ा वह अपने हाथका गुथा हार सांपके समान भयानक प्रतीत हुआ।

हरिकविको इस नायककी दरिद्रतापर दया आयी है उन्होंने अर्थान्तर करके इसका दारिद्र्य दूर किया है। वह कहते हैं कि इस अर्थमें नायकका दारिद्र्य प्रतीत होता है कि उसने एक पत्नीसे हार लेकर वही दूसरीको जा पहनाया। इसलिये ऐसा अर्थ करना चाहिये कि नायिकाने अपने घरमें नायकका सिंगार किया है, हार पहनाया, है, उस हारको पहने वह नायिकाकी सौतके घर गया सपत्नीने हठ

*"हरहार—शेषनाग हार भी श्वेत है शेषका भी श्वेत ही वर्णन है, शेष नाग सा भयानक होगया" (व्यासजी)

भावोदय। नायिकामें ईर्ष्योदय।

और हित करके वह हार ले लिया, उतरवा दिया और अपना हार पहनाकर उसका सिंगार किया" जिसने पहला सिंगार कियाथा,उसे यह नया सिंगार"हरहार, भयो, हरके हारसों भयो दुखदाई भयो।—

अलंकार—प्रथम विभावना बिना कारणके कार्य ।

(अनवरचंद्रिका)

२–"व्याघात"– अपने हाथका गुहा मोतियोंका हार साप होगया! सुखद वस्तु दुखद होगयी (अमरचन्द्रिका)।

३—"वाचक-धर्म-लुप्ता उपमा"– (हरकवि)

"हरहार" हर के हारके तुल्य भयानक। इसमें वाचक-लौं आदि और साधारण-धर्म भयानकता-आदि लुप्त हैं।

४-पूर्वार्धमें छेकानुप्रास और उत्तरार्धमें "वृत्त्यनुप्रास"।

(श्रीप्रताप)



१२१

सुरँग महावर सौति पग निरखि रही अनखाय।
पिय अँगुरिन लाली लखै खरी उठी लगि लाय॥

(सखीका वचन सखीसे)—

अर्थ — (सौति पग, सुरँग महावर, निरखि)–सपत्नी-के पाँवमें अच्छे रंगकी महावर लगी देख (अनखाय रही)–नाराज होरही थी, फिर (पिय अँगुरिन लाली लखै) – प्रियके हाथकी उँगलियोंमें लाली देखकर (खरी लाय लगि उठी)–अत्यन्त आग लग उठी।

—सपत्नीके सुन्दर पावोंमें सुरंग महावर लगी देखकर नायिकाको ईर्ष्याजन्य क्रोध हो ही रहा था, कि उसने प्रियकी उंगलियां भी रंगी देखी, इससे क्रोधाग्नि और भभक उठी। पहले तो यही ईर्ष्या थी कि यह प्रियको रिझानेकी तय्यारी कर रही है, सुरंग महावरसे रँगे इसके सुन्दर पावोंपर पति जरूर लोट पोट हो जायगा॥ जब देखा कि प्रियकी उंगलियां भी लाल हो रहीं हैं, तो यह जानकर कि यह इन्हींने अपने हाथसे रंगे हैं और भी आग लग उठी, जी जल गया!—"बरत अनलमें मनु घृत परेउ" —

अलंकार— १—"अनुगुण-"

—"प्राक्‌सिद्धस्वगुणोत्कर्षानुगुण परसंनिधेः।"

जहां पूर्व सिद्ध गुण कारणान्तर—परसन्निधि आदिसे— अधिक होजाय वहां "अनुगुण" होता है।

"जानत लखि हुतिये सुरसि बढ़ी सुपिय दुति हरि"

महावरको देखकर तो क्रोध था ही— पियकी उंगलियों की लाली देखकर वह और बढ़गया।

२— "समुच्चय"— (अनवरचन्द्रिका)

—"बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः "समुच्चयः।"

—"अहंप्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयोऽपि सः।"

एक साथ होनेवाले अनेक भावोंका वर्णन जहां हो, वह 'समुच्चयालंकार' है।

"दोऊ 'समुच्चय' भाव बहु कछुक उपजें संग।
"एक काज चाहत कियो हैं अनेक इक संग"

॥अच्छा रंग जो महावरका सौतिनके पाइनमें देखकर बुरा लगा इस वास्ते कि जो मुझे अच्छा लगेगा तो प्रीतमको भी अच्छा लगेहीगा। (रसचंद्रिका)॥

परन्तु इस अलंकारकी संगति इस दोहेमें ठीक नहीं बैठती। अनल, क्रोध और लाय, अग्नि,—लक्षणासे क्रोधाग्नि, एक ही भाव है।

"हेत्वलंकार"—(हरिकवि)

हेतु—सुरंग महावर देखना। हेतुमान् (कार्य) अनखाना नाराज होना।

हेतु—प्रियकी उगलियोंकी लाली। हेतुमान् आग लग उठना। "डबल" "हेतु" अलंकार है!



स्वाधीनपतिका-वर्णन

१२२

रहौ गुही बेनी लखे गुहिबेके त्यौनार।
लागे नीर चुचावने नीठि सुखाये बार॥

(नायिकाका* वचन नायकसे)—

अर्थ — (रहौ)— ठहरो, रहने दो, (बेनी गुही)— वेणी गुँथ चुकी। (गुहिबेके त्यौनार† लखे)-तुम्हारे गूँथनेकी चतुराई देखली (नीठि सुखाये बार)-किसी प्रकार कठिनतासे सुखाए बाल (नीर चुचावने लागे)--पानी टपकाने लगे।

नायक अपने हाथसे नायिकाकी वेणी (जूड़ा) बांध रहा है, नायिका कहती है कि बस रहने दो, तुमसे वेणी गूँधी जा चुकी, वेणी गूँथनेकी तुम्हारी कुशलता देखली। बाल (केश) जो मुश्किलसे सुखाये थे सो ऐसे भीग गये कि उनसे पानी चुचाने लगा। अर्थात् तुम्हारे सात्त्विक पसीनेसे बाल तर होगये।

अलंकार —"व्याजोक्ति"—

* स्वाधीनपतिका नायिका, गर्व संचारी, कपट अनादरसे विब्बोक हाव
† त्यौनार— प्रकार, कौशल (व्यासजी)

" व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम् । "

" व्याजोक्ति कछु और निधि कहे दुरै आकार । "

–सात्त्विक भाव नायिकाको हुआ है, पर कहती है कि तुम्हारे पसीजे हाथोंसे बाल भीग गये । इस प्रकार गर्वसूचक वाक्योंसे अपने सात्त्विक आकारको छिपाती है ।

२–"तृतीय असङ्गति"–

" अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा । "

काम कुछ आरम्भ किया जाय और होजाय कुछ और वेनी गूँधना प्रारम्भ किया और उसमें नीर चुचाने लगा !

(श्रीप्रताप)

रसचंद्रिकाकारके मतमें सात्त्विक भाव नायकको हुआ है, उसीके हाथके " पसीना सों बार (■) चुचान लगे हैं "— इनके मतानुसार––

३– "पूर्वरूप" अलङ्कार है । जहा फिर अपने गुणको प्राप्ति हो जाय, वहा 'पूर्व रूप' होता है, यहा भीजे बाल मुश्कि लसे सुखाये सो सात्त्विक भावसे फिर नीर चुचान लगे !

(रसचंद्रिका) ।

४–'काव्यलिङ्ग' भी सम्भव है । वेणी न गूँध सकने-का समर्थन नीर चुचानेसे किया ।

इस दोहेमें अमरचन्द्रिकाकारने न जाने किस अभिप्रायसे "परिवृत्त्यलंकार" मानकर यह दोहा लिखा है और लल्लूलाल-जीने भी यही उद्धृत किया है–

परिवृत्त कीजे और कछु उपजि परै कछु और ।
गुहिबौ काज परति ज्यौं नीर चुवनि तिहि ठौर ॥ "

किया–गुहिवे कारजने त्यौं

पर यह लक्षण तो तृतीय असङ्गतिका

है। "परिवृत्ति" का लक्षण तो यह है.——

" परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथ ।"

" परिवृत्ती लीजे अधिक थोरेई कछु देय "

अर्थात् जहा थोडी चीज के बदले अधिक ले ली जाय, वह 'परिवृत्ति' अलङ्कार होता है।

कृष्ण कविने इसे और ही प्रकार लगाया है। यथा–

"यह नायक सखी वेष होके, नायिकाको शृङ्गार करन लाग्यों' बेनी गुहति सात्विक भाव उपज्यौं, तब नायिकाने जान्यों सो नायकसो कहति हे।"–

"गोपीको वेष बनाय गुपाल जू श्रीवृषभानुसुता ढिग आये.
हौं सजि आनत नीके सिंगार कहौं सु करौं कहि बैन सुनाये।
बैनी गुहावत प्यारी कह्यौ सुनराय इते किनते तुम पाये,
नीर चुचान लगे अब हौं सटकारे से बार जे नीठि सुकाये॥

१२३

पिय प्राननि की पाहरू जतन*करति नित आप।
जाको दुसह दसा भये* सौतिन हू सन्ताप॥

(सखीका वचन सखीसे।)—

अर्थ —(पिय प्राननिकी पाहरू)—प्रियके प्राणोंकी पाहरू रक्षक–पहरेदार है। अत (आप नित जतन करति)–सपत्निया

---

*पाठान्तर— " करत जतन तन आप। करति जतन अति आप। भये, परयौ। † स्वाधीन पतिका, प्रोषितपतिकाकी व्याधि दशा, सपत्नियोंकि शंका संचारी।

आप नित्य यत्न-प्रतीकार करती हैं, (जाकी दुसह दसा भये)– जिसकी दु सह दशा होनेपर (सौतिन ह संताप)— सपत्नियोंको भी सताप हुआ।

किं वा " नायिका आपको प्रियके प्राणोंकी पाहरू जान-कर यत्न करती है, नहीं तो अब तक शरीर छोड देती"— (हरिकवि)।

विरह-व्याधि* से नायिकाकी दशा दु सह हो रही है, उसका जीवन संशयित हो रहा है, वह प्रियके प्राणोंकी "पाहरू" पहरेदार है। हरिकविके कथनानुसार " जो यह मरेगी तो नायक कभी जीवे नहीं। " इसलिये – (अपनी सौभाग्यरक्षाके लिये) सपत्निया भी उसके इस दु खसे संतप्त हैं, और सापत्न्य-के शत्रु-भावको छोडकर प्रतीकारमें तत्पर हैं, हर वक्त इलाज मालजेमें लगी हुई हैं।

"अलङ्कार— "सम्बन्धातिशयोक्ति"—

"सम्बन्धातिशयोक्ति स्यादयोगे योगकल्पनम् ।

" सम्बन्धातिसयोक्ति जहँ देत अजोगहि जोग ।

अयोग–असम्बन्धमें सम्बन्धका वर्णन करना "सम्बन्धातिश-योक्ति" है। सपत्नीको सपत्नीके दु खका सन्ताप हो, इसका योग नहीं है, तो भी यहा यह योग कहा गया है।

"सम्बन्धातिशयोक्ति— अजोग विषे जोगको बनन, सो इहा सौत को सन्ताप अजोग है, पियके प्राननके हेत जोग भयो " (रसचन्द्रिका) .

* "अग वरन विवरन जड़ा अति ऊंचे उसास।
नैन नीर परिताप बहु 'व्याधि' सु केसवदास।"

२—" वृत्त्यनुप्रास "— पकारकी आवृत्तिसे।
३—" छेकानुप्रास " वकारकी आवृत्तिसे।
'करत जतन तन आप' पाठान्तरमें तन तनमें "यमक"।

इसी भावकी एक गाथा और एक आर्या भी है·—

"सो तुज्झ कए सुन्दरि! तह छीणो सुमहिलो हलिअउत्तो।
जह से मच्छरिणीए वि दोच्च जाआए पडिवण्णम्॥"

(स तव कृते सुन्दरि! तथा क्षीण सुमहिलो हालिकपुत्र।
यथा तस्य मत्सरिण्यापि दूत्य जायया प्रतिपन्नम्॥ गा०स०१। ८४)

—दूती किसी नायिकासे कहती है कि हे सुन्दरी! तेरे वियोगमें वह सुन्दरी स्त्रीका पति हालिकपुत्र इतना क्षीण हो गया है कि पतिमरणके भयसे उसकी मत्सरिणी (ईर्ष्यालु) स्त्रीने तुझे मिलानेके लिये दूतत्व करना स्वीकार किया है। वह तुझे मनानेके लिये तेरे पास स्वयं आना चाहती है। "सुमहिल" विशेषण का भाव यह है कि यद्यपि वह सुन्दर रमणीका पति है तो भी तुझपर आसक्त है। इससे नायिकाके सौन्दर्यातिशयकी स्तुति और हालिकपुत्रका दृढानुराग व्यङ्ग्य है। हालिकरमणीके 'मत्सरिणी' विशेषणमें यह ध्वनि है कि वह ऐसी पतिप्राणा है जो सापत्न्यभावको भूलकर, स्वाभाविक ईर्ष्याको छोड़कर पतिकी प्राणरक्षाके लिये, अकार्य कार्य करने पर भी उतारू हुई है। इसलिये तू शीघ्र मिल नहीं उसकी हत्या तेरे सिर होगी।

"प्रियविरहनि सहाया सहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभि।
रक्ष्यन्ते हरिणाक्ष्या. प्राणा गृहभङ्गभीताभि॥"(आ०स०३८०)

—हरिणाक्षी नायिका प्रियके विरहमे ऐसी नि सह—क्षीण— हो रही है कि स्वाभाविक शत्रु जो सपत्नियां हैं वे भी घर बिगड़नेके डरसे उसके प्राणोंको बचा रही हैं।

गाथा, आर्या और दोहा, इन तीनोंका भाव एक है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'गाथा'की छायापर आर्या बनी और "गाथा" तथा आर्याकी छायाको लेकर यह दोहा रचा गया है। आर्याकारने गाथाके हालिकपुत्रको दूर करके प्राकृतताकी जगह 'नागरिकता' ला दी है। तथा गाथा के "मत्सरिण्यापि जायया" का भाव आर्याके "सहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभि" इन पदोंमें भर दिया है, और "तव कृते तथा क्षीण" का अर्थ "प्रियविरहनि महा" में धरागया है। आर्याके इस विशेषण "प्रियविरहनि महाया" का भाव टीकाकारने यह निकाला है— "एव च प्रकारान्तरमरणे समाधे सन् नास्ति भाव ।" अर्थात् यदि यह प्रियके वियोगमें क्षीण होकर न मरती किसी और कारण रोगादिसे मर जाती तो बात दबाई भी जा सकती थी। प्रियका समाधान करके घर बचा रहना सम्भव था। परन्तु इस 'भाव'में स्वार्थभाव झलक रहा है, निर्व्याज प्रेमकी गन्ध नहीं।

तथा आर्याकी सपत्नियोंका "गृहभङ्गभीताभि" विशेषण भी विशुद्ध प्रेमकी अपेक्षा दुनियादारीकी समझ, स्वार्थमूलक प्रेमको प्रकट करता है। उन्हें पतिका जीवित रहना, घर बचानेके लिये अभीष्ट है, गृह-रक्षाका ध्यान मुख्य और पति-प्रेम (यदि कुछ हो तो) गौण है। प्रेमके प्रपंचमें ऐसी वणिग्-बुद्धि कुछ शोभा नहीं देती। निर्व्याज प्रेममें घर बार की चिन्ता कैसी। चिन्ता तो एक और ऐसी चर्चा भी नहीं सुहाती।

"गृहभङ्गभीताभि"— के 'गृह' पदका अर्थ यदि "न गृहं गृह-मित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते"— के समान, लक्षणासे 'गृही' घर-वाला अर्थात् पति भी मान लिया जाय, तो भी वह बात कहा, जो "प्रिय प्रानकी पाहरूमें" है। "गृह" शब्दसे प्रियका बोध

कराना तो दूर रहा, यदि साक्षात् "पति" पदसे भी प्रियका बोध कराया जाय तो भी वह चमत्कार नहीं रह सकता, जो "प्रिय"में है। प्रेमके कानूनमें तो 'पति" "भर्ता" "स्वामी" 'नाथ' इत्यादि प्रियवाचक पदोंका प्रयोग भी अनौचित्यमें गिना जाता है, फिर वरमें और प्रियमें तो बहुत दूरका सम्बन्ध है। सहृदयहृदय-मेवात्र प्रमाणम्।

''नाथेति परुषमुचितं प्रियेति दासेष्वनुग्रहो यत्र।

तद्दाम्पत्यमितोन्यन्नारी रज्जु पशु पुरुष ॥'' आ०स०

विहारीके दोहेमे प्रेमकी निर्व्याजताको सशयित करने वाला ऐसा कोई पद या भाव नहीं है। वह बहुत गम्भीर है। "प्रिय प्राननिको पाहरू" पदने उसमें प्राण डाल दिये हैं। आर्याकी सपत्नियाँ तो गृह-भङ्गके भयसे प्राणमात्र बचा रहीं हैं। [प्राणा रक्ष्यन्ते] सिर्फ यह चाहती हैं कि इसके प्राण न निकले। उन्हे कुछ और दु ख या सन्ताप नही है। वह उसका अच्छा होना नहीं चाहती, (गृह-भङ्गका डर न होता तो शायद गला घोंटकर मार डालती!) और दोहेकी सपत्नियाँ "जतन करत नित आप"— हर वक्त उसे अच्छी करनेकी फिक्र में लगी हैं। ऊपरी जी से उसके उपचारमें नहीं लगीं किन्तु वे उसके सन्तापसे स्वय भी सन्तप्त हैं। पूरी समवेदनासे उसके दु खमें शरीक हैं, वे केवल यही नही चाहतीं कि इसके प्राणमात्र न निकलें, प्रत्युत उन्हें बडी चिन्ता है किसी प्रकार यह अच्छी हो जाय। उन्हें 'गृह-भङ्गका' भय नहीं, पतिके 'प्राण-प्रयाणका, डर है। पहरेदारकी निर्बलतासे प्राणेश्वरके प्राण-धनके विनाश की आशङ्का है, जब तक 'प्राणोंकी पाहरू' स्वस्थ दशामें न हो, प्रियका प्राण धन भी सुरक्षित नहीं है। इसीलिये वे सन्तप्त हैं

और सचिन्त हुई उपचारमें तत्पर हैं, 'पहरेदार' और 'धनी' के चित्तमें यह विचार भी नहीं आने देना चाहतीं कि ये इसकी अस्वस्थतासे प्रसन्न या उदासीन हैं, पूरी हमदर्दीसे इलाज कर रहीं हैं। बीमारदारी इसे कहते हैं। समवेदना ऐसी होती ।। विशुद्ध पति-प्रेम इसका नाम है।।।

अपनेसे पहिले दो महाकवियोंद्वारा वर्णित विषयको इस सुन्दरतासे वर्णन करना – प्राचीन भावमें नवीनताका चमत्कार दिखा देना, महाकवि विहारीलालहीका काम है।



१२४

टुनिहाई सब टोलमें रही जु सौति कहाय।
सु तौ ऐंचि पिय आप त्यौं करी अदोखिल आय॥

(सखीका वचन नवोढासे)—

अर्थ —(सब टोलमें)–सब सखियोंके समूहमें या अड़ौस पड़ौसमें (जु सौति टुनिहाई कहाय रही)– जो सौत टुनिहाई–टोना करनेवाली– जादूगरनी कही जाती थी – प्रसिद्ध थी, (सु तौ आय)– सो तूने आकर, (पिय आप त्यौं ऐंचि)– प्रियको अपनी ओर खींचकर (अदोखिल करी)– वह सपत्नी दोष-रहित कर दी।

नवोढा नायिकाके रूपादि गुणोंकी प्रशंसा करती हुई सखी उससे कहती है कि तेरे आनेसे पहले नायक तेरी जिस सौतके वशमें था, वह 'टुनिहाई'– टोना करनेवाली प्रसिद्ध

* "नायिका उपासन्नपतिका—स्वाधीनपतिका" (अनवरचन्द्रिका)

थी, कि इसने पतिपर जादू करके उसे इस प्रकार अपने वशमें कर रखा है जो हर वक्त इसीके पास पड़ा रहता है। सो तूने आते ही अपने लोकोत्तर रूपादि गुणोंसे, नायकको अपनी ओर खींचकर अपनी उस सौतको दोषरहित कर दिया। अर्थात् उसे इस इलाज़ामसे बरी कर दिया कि वह टोनाकरनेवाली है। क्योंकि यदि वह 'टुनिहाई'—जादूगरनी— होती, तो नायक उसके फन्देसे छूटकर तेरे वशमें न हो सकता, इससे जाना गया कि जादूसे नहीं, किन्तु सौन्दर्य्यादि गुणोंहीसे उसने नायकको अपने अधीन कर रखा था, अब उससे अधिक रूपवती और गुणवती होनेके कारण नायकको तूने अपनी ओर खींच लिया।

अलङ्कार — १–" लेश "—

"लेश स्याद् दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्।

"गुनमें दोषरु दोपम गुन कल्पन सों लेश।"

अर्थात् जहा गुणके स्थानमें दोपकी और दोपके स्थानमे गुणकी कल्पना हो जाय, वहाँ 'लेशालङ्कार'होता है। जैसे यहाँ सौतमें टोना करने रूप दोषके स्थानमे गुणवती होने रूप गुणकी कल्पना की गयी। नायकका वशमें होना टोनाके प्रभावसे नही था किन्तु सौन्दर्य्यादि गुणोंके कारण था। यह अब सब टोल–सखियोंका गोल– जान गया। वह टुनिहाई कहलानेके दोपसे छूटकर सखियोंके टोलमें गुणवती समझी जाने लगी।

२—"उल्लास"—

"एकको जो गुन दोप आन (अन्य) गहै सो उल्लास" (कण्ठाभरण)"नायिकाके गुणसे सौतमें गुण हुआ"(श्रीप्रताप)

अथवा,३—"हेतु अलङ्कार"-प्रियको खींचना-वशमें करना हेतु, "अदोखिल" होना- हेतुमान् ।

किंवा—युक्तिसे 'अदोखिल' होनेका समर्थन किया इससे ४—" काव्यलिङ्ग " भी होसकता है, सो इस प्रकारके सन्देहसे 'सन्देहसंकरालंकार' है । (हरिप्रकाश)

डाक्टर ग्रियर्सनद्वारा सम्पादित लालचन्द्रिकाके परिशिष्ट Additional rotes में इस दोहेके लेशालंकारकी व्याख्यामें एक लम्बा नोट है। जिसमें दोषको गुण एक नये ही ढंगसे सिद्ध किया गया है । नोट बहुत ही अनोखा है । अत साहित्य-मर्मज्ञोंके मनोविनोदार्थ उसे उद्धृत किये देते हैं ——

"जहाँ किसी कारणसे दोषको गुणके रूपमे प्रकाशित करें वहा लेशालङ्कार होता है। यथा सौतियों का (नायक को) वशमें रखनेका ढग टोना (जादू वशीकरण आदि) दोष था । अर्थात् मारण मोहन उच्चाटनादि बुरे प्रयोग हैं , पर जब तूने- (नायिकाने) नायकको अपने गुण रूप आदि से अपने वश कर लिया, तो वही वशी-करणका दोष गुण हो गया। अर्थात् ऐसी दशामें नायक बहुत स्त्रियों की आसक्ति छोड कर, एक स्त्री पर स्नेह करने लगा । 'सब' और 'टोल' शब्द से अनेक नारी सिद्ध होती हैं नायिका नई और स्वकीया है । उसके पक्ष में पति का अनेक नारी अनुरक्त होना, उसके (नायिकाके) रूपादि में न्यूनता का दोष, और नायकमें कामुकता का दोष, दिखाता था । पर जब नायिका ने उन्ही कामों से (जिनसे सौतें नायक पर वशी-करणसा किए थीं) नायक को अपने वश कर लिया, तो नायिका

नायक के दोनों दोप मिट गये। अत वशी करण का दोप गुण हो गया।"

इस नोटकी अन्यान्य कल्पनाओंकी सारताका विचार तो हम महृदय पाठकोंपर ही छोडते हैं, पर "सब" और "टोल" शब्दपर कुछ कहना चाहते हैं। 'सब टोल' शब्दसे अनेक नारी सिद्ध नहीं होती, और के विषयमें तो कह नहीं सकते पर यहनायक अनेक नारियों में अनुरक्त नहीं था। किन्तु एकही नारीके प्रेमपाशमें बंधाथा। पुराने सब टीकाकार एक स्वरसे इस बातको कह रहे हैं, जादू करनेके लिये 'सम्भूयसमुत्थान'की आवश्यकता भी नहीं कि बहुत सी सपत्नियाँ मिलकर ही मारण मोहन उच्चाटनादि बुरे प्रयोगोंसे एक नायकको वशमें रख सकें।

इस दोहेकी "सौति" एक ही है। वही सब टोलमें– सब सखियोंके समूहमें, या अडौस पडौसमें, अथवा सारे मुहल्लेमें दुनिहाई प्रसिद्ध थी, 'सब टोल' शब्द अनेक नारियोंके सूचक यहा कदापि नहीं हैं। 'सौति' एक वचन है, उससे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाए 'रही' और 'करी' भी एक वचन हैं। इसमें सब टीकाकार सहमत हैं। किसी पुस्तकमें भी "सौतिन" 'रहीं' 'करीं' ऐसे बहुवचनसूचक पाठान्तर नहीं हैं। सतसईके बहुत प्राचीन टीकाकार कृष्ण कविका "सवैय्या" जो इस दोहेपर है वह पठनीय है –

" रात दिना छकि याही के धाम परयो रसमें रहतो सुखदाई,
पास परौस बके कहतीं यह बीस बिसे तिय है दुनिहाई।
तू जबतें गुन रूपकी रासि सुसील सुहागिल गौने ही आई,
प्राणपती अपने बस कै तैं भली करी सौति की छुन बँडाई।"



स्वकीया प्रोषितपतिका-वर्णन

१२५

रह्यौ ऐंचि अन्त न लह्यौ अवधि-दुसासन वीर।
आली बाढत विरह ज्यौं पंचाली कौ चीर॥

(विरहिणी नायिकाका वचन सखीसे)—

अर्थ —(वीर अवधि-दुसासन)–वीर जो अवधिरूप दु शासन है, सो (ऐंचि रह्यौ)–खींच रहा है, पर (अन्त न लह्यौ)–अन्त नहीं पाया (आली)–हे सखो! (विरह ज्यौं पंचाली कौ चीर बाढत)–विरह पाञ्चाली द्रौपदीके चीरके समान बढ रहा है।

प्रोषितपतिका विरहिणी, विरहको अनन्त दीर्घतासे घबराकर सखीसे कहती है कि पराक्रमी अवधिरूप दुशा सन विरहको बहुतेरा खींच रहा है, पर उसका अन्त हाथ नहीं आता। वह द्रौपदीके चीरकी तरह बढता ही जाता है। अभिप्राय यह कि अवधि भी विरहवेदनाको दूर करनेमें असमर्थ है, आनेकी अवधि आती है, पर प्रिय नहीं आता, अवधि समाप्त हो जाती है, पर विरहका अन्त नहीं होता। "दु शासनकी" तरह अवधि अपना जोर लगाकर थक जाती है। पर पाञ्चालीके चीरकी तरह विरहका अन्त नहीं मिलता, वह द्रौपदीके चीरके समान बढता ही जाता है। बहुत मनोहर "पूर्णोपमा" है!

"सा पूर्णा" यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च।
उपमेय चोपमानं भवेद्वाच्यम्।"

"उपमेयरु उपमान जह वाचक धर्म सु चार।
पूरन उपमा

कानमें यह भनक पड़तेही गरीबके होश उड़ गये, दिल टूट गया—" बस खूं टपक पड़ा निगहे-इन्तजारसे । "आशाका बांध टूट गया । हृदय हृदमें चिन्ता-तरंगोंका तूफान सा उठने लगा, बेचारी अबलाको बौखलानेके लिये यही 'दुर्घटना'—अवधिका टलना-कुछ कम न थी कि इसपर ऊपरसे वसन्तने आकर और गजब ढा दिया । बौरे आमने रही सही कसर निकाल दी-विरहिणी बालाको बिलकुलही बावली— बनादिया ।

अलङ्कार—"भेदकातिशयोक्ति"—बौरेके योगसे (अमचन्द्रिका) "उत्प्रेक्षा" "औरिसी भई—और ही भई मानो,इहा "सी" 'मानो'के अर्थमें है । " (हरिकवि)

"समाधि अलङ्कार" (श्रीप्रताप)

" 'समाधि ' कार्यसौकर्य कारणान्तरसन्निधे । "

—"सो 'समाधि' कारज सुगम और हेतु मिलि होत । "

जहा किसी अन्य कारणके आपडनेसे कार्यसिद्धिमें सुगमता हो जाय, वहा 'समाधि'अलङ्कार होता है । जैसे दोहेमें वर्णित घटनामें अवधिके टलनेकी खबरने विरहिणीको बावली बनाना प्रारम्भ कर दियाथा,बौरे आमने यह काम सुगमतासे पूरा करदिया ।

" मोहन मों निठुरी जबत तबतें न लही कल एक घरी है,
नैनन नीर ढरे निसि-बासर व्याकुल बाल अचेत परी है ।
ऐसी दसा पहले हि हुती पुनि और भई सुधि औंधि टरी है,
तापर बौर रसालन देख्यौं वसन्त के मो [औ] सर बौरी करी है ।"

(कृष्णकवि)



भाष्यके इस भागमें आये हुए दोहोंकी अकारादि क्रमसे पृष्ठांकसहित सूची

इति

शुद्धिपत्र ।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मेदनी	मेदिनी	५	१४
कुण्ल	कुण्डल	२६	४
अनेकमें	अनेकनमे	४०	१६
आलिम	आमिल	८६	दोहा

१८५ पृष्ठ पर २० वी पक्ति में " बैठी है " के आगे " वह न " शब्द छूट गया है । १७४ पृष्ठपर ६५ वें दोहे में " सैन " शब्द किसी किसी कापी मे नहीं उठा है, इसी प्रकार की अन्य भूलें विज्ञ पाठक स्वय सुधार कर पढ़ने की कृपा करें ।